श्रीः ।

श्रीमन्महाकविकालिदासविरचित

अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक ।

शतशः ग्रन्थोंके संशोधक संपादक टिप्पणीकर्त्ता और अनुवादक, एवं विविध ग्रन्थप्रणेता मुरादाबादनिवासी पदकालकृत विद्याभूषण-

व्रजरत्नभट्टाचार्य्यकृत

मनोरमा नाम सरस सरल और सविस्तर हिन्दीभाषाव्याख्यासहित ।

उसीको

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास

अध्यक्ष "लक्ष्मीवेंकटेश्वर" छापेखानेमें

पं० शिवदुलारेजी वाजपेयीने मालिकके लिये

छापकर प्रकाशित किया.

शके १८३८, संवत् १९७३.

कल्याण-मुंबई.

भूमिका ।

प्रियपाठकगण !!!

आज एक अभिनव भेंट लेके आपकी सेवामें उपस्थित हो रहे हैं, आशा है इस प्रेमोपहारको स्वीकार कर आप अपनी गुणग्राहकता और काव्य-रसिकताका परिचय देंगे । आप जानते हैं हमारा संस्कृत साहित्य उत्कृष्ट एवं अमूल्य रत्नोंका भंडार है; ऐसा कोई विषय नहीं है जिसके ऊपर उत्तमोत्तम ग्रन्थोंका संग्रह संस्कृत भाषामें न हो, हां, यह बात दूसरी है कि, जो विषय विशेष उपयोगी समझे गये, अथवा कालक्रमानुसार जनताकी प्रवृत्ति जिनकी ओर विशेषरूपसे आकृष्ट हुई, उनके तो ग्रन्थ प्रस्तुत रहे और उन्हींमें आवश्यकतानुसार परिवर्त्तन एवं वृद्धि होती रही। और समयके प्रभावसे अन्य ग्रन्थोंमेंसे कुछ गुप्त कुछ लुप्त और कुछ बिलकुल ही नष्ट हो गये । संस्कृत साहित्यके ऊपर इन प्राकृतिक नियमोंका ही जो कुछ गहरा प्रभाव पडा था उसीके द्वारा उसके जिन अंशोंकी जो हानि हो चुकी थी उसीकी पूर्त्तिके लिये सहस्रों वर्षोंके समयकी अपेक्षा होती, परन्तु इस परभी मुसलमानी शाही शासनने तो संस्कृत साहित्यके ऊपर गजबही ढादिया, हमारे संस्कृत ग्रन्थ फाड २ कर राजपथोंमें बिछाये गये और मुद्दत तक शाही हम्माम हमारे ग्रन्थोंहीको जला २ के तप्त किये जाते थे, इसका परिणाम यह हुआ कि, कई एक विषयके ग्रन्थोंका संस्कृत साहित्यमें बिलकुल अभाव ही हो गया और इसीसे कालान्तरमें लोगोंको यह कहनेका अवसर मिल गया कि, साइन्स अथवा पदार्थविज्ञान आदि कतिपय विषयोंको आर्य्य हिन्दू जनता जानती ही नहीं थी, इसीसे उक्त विषयके ग्रन्थ संस्कृत साहित्यमें निर्मित नहीं हुए हैं ।

जिन्होंने ऐतिहासिक अनुशीलन मनोयोगपूर्वक नहीं किया है और जिन्हें हिन्दू सृष्टिकी आदि कालके नियमोंका बोध नहीं है संभवत: वे ही ऐसा कहते हैं, क्यों कि, महाराज मनुजी कह गये हैं कि—

" एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ "

इसका स्पष्ट आशय यही है कि, संसारमें जितने आविष्कार हो चुके हैं, भविष्यमें होंगे अथवा वर्त्तमानकालमें विद्यमान हैं, वे सब लोकदृष्टिमें

नवीन होते हुए भी नूतन नहीं हैं, क्यों कि, सिद्धान्त यह रक्खा गया है कि, सब पदार्थ अनादि हैं, समयानुसार उनका केवल आविर्भाव या तिरोभाव मात्र होता रहता है। कारण कि, सृष्टिकी आदिमें इसी भारतवर्षके अग्रजन्मा ब्राह्मणोंके द्वारा भूमंडलकी समस्त मानवजाति अपने २ कर्त्तव्यकी शिक्षा पाया करती थी। तब यह संभव कैसे होसक्ता है हमारे देशके जगद्गुरुओंने जिस विषयकी शिक्षा जगत्में किसीको भी दी न होगी, उसका आविष्कार अब हुआ है।

इससे हमारे संस्कृत साहित्यकी सर्वांगीनता तो पाठकोंको भली प्रकार विदित होगई होगी, अब केवल इस बातके प्रतिपादन करनेकी आवश्यकता है कि तत्कालीन ग्रन्थोंके रसकी चासनीका आस्वादन कराके अपनी भूतकालीन सजीवताका आभास दिखावें।

उपन्यास और नाटक जातिकी सजीवता और सामाजिकताके आकारवान् दृश्य होते हैं इस विषयमें भी हमारे देशका साहित्य अन्य देशोंकी भाषाओंके साहित्यकी अपेक्षा कहीं उच्च है।

नाटक दृश्य काव्य है उसके द्वारा जनतामें जातीयता सम्मता प्रेमानुबंध और शिष्टाचार पद्धतिकी शिक्षा अच्छी तरहसे दी जा सक्ती है।

कवि कालिदासकी कृति विषयनिर्वाचनकी उत्कृष्टता एवं भावाका समुज्ज्वलताके कारण अभिज्ञानशाकुन्तलनाटकने नाटकोंकी श्रेणीमें सबसे उन्नतस्थान प्राप्त किया है। साहित्यमें लिखा है कि—

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्रापि च शकुन्तला।
तत्रापि च चतुर्थोऽकस्तत्र श्लोकचतुष्टयम्॥

काव्योंमें नाटकका आसन ऊँचा है, शकुन्तलानाटक नाटकोंमेंभी सर्वोन्नत है, शकुन्तलाका चौथा अंक बडाही मार्मिक है और उसमें भी चार श्लोक तो ग्रन्थभरके अथवा यौं कहिये महाकविकी परिष्कृत भावसरणीके इत्र हैं।

सुनते हैं इंग्लेंडके एक विद्वान्के कानमें जब उक्त श्लोककी भनक पडी तब उसने मुग्ध हो शकुन्तला नाटकका अध्ययन करनेहीके लिये संस्कृत सीखी थी। आशय यह है कि, शकुन्तलाके अछूते और अनूठे भाव पाठक एवं दर्शक दोनोंहीके चित्तपर ठगौरीसी डाल देते हैं।

इसका एक मुख्य कारण है और वह यह है कि इसमें प्रेमानुबन्धके आधार पर शिक्षा देनेका प्रयत्न किया गया है यद्यपि जगतत्में सजीव जीव कोई ऐसा नहीं मिलेगा जो प्रेमपथका पथिक न हो, प्रेमकी भिक्षा मांग-नेमें सभीको आनन्द मिलता है, परन्तु प्रेम है क्या वस्तु ? और उसकी याच्त्रा किस प्रकार की जाती है एवं प्रेमकी भिक्षा मिल जाने पर उसका गोपन और संरक्षण किस प्रकार किया जाता है इस रीतिको सब कोई नहीं जानते । एक प्रेमीने ठीकही कहा है—

" प्रेम पन्थ अति कठिन है, सब कोउ जानत नाहिं ।
चढिवो मोम तुरंग पै, चलिवो पावक माहिं ॥ "

मोमके घोडेके ऊपर चढके अग्निपूर्ण मार्गमें चलना कठिन नहीं, वरु असंभव है, ठीक इसी प्रकार प्रेमपन्थमें चलकर निरापद और शांतिपूर्वक अन्ततक पहुँच जाना निपट असंभव है कारण कि, लोग कहा करते हैं " प्रेम एक तर्फा होता है " अर्थात् जब दो व्यक्तियोंमें परस्पर प्रेम होता है तब परस्परकी मात्रा एक समान (बराबर) नहीं होती किन्तु न्यूनाधिक होती है इसीसे न्यून मात्रावालेके आचरण अधिक मात्रावालेको कभी २ असह्य और उद्वेगजनक हो उठते हैं इसका परि-णाम यह होता है कि प्रायः कलहकाण्ड उपस्थित हो जाता है, इसी हेतु एक अनुभवी प्रेमी कहगये हैं कि—

" प्रेम पयोनिधिमें फँसिके,
हँसिके कढिवो हँसि खेल नहीं फिर । "

प्रेमपयोनिधिमें फँसनेके समय मनुष्योंके मुखपर जो प्रसन्नताकी हँसी रहती है उसमेंसे उसी प्रकार हँसी खुशीके साथ निकल आना हँसी खेल नहीं है ।

' प्री ' धातुमें ' मनिन् ' प्रत्यय जोडनेसे ' प्रेम ' शब्द बनता है । यद्यपि संस्कृतमें प्रीति हार्द अनुराग और स्नेह आदि इसके कई एक पर्याय हैं, परन्तु आजकल लौकिक व्यवहारमें मुहब्बत इश्क और लव (Love) इत्यादि नामोंसे भी प्रेमहीका निरूपण किया गया है अत एव इनको भी प्रेमकी सीमाके भीतर ही समझना चाहिये हमारे

यहां जो प्रेमका वर्णन मिलता है वह केवल ईश्वरीय प्रेमहीका विवेचन मात्र है, परन्तु साहित्यिक ग्रन्थोंमें नायक नायिका संबंधी प्रेमका वर्णन भी मिलता है अत एव हम यहां दोनोंही प्रकारके प्रेमका स्पष्टीकरण करें।

प्रेमका पूरा २ ठीक २ और एकत्र संक्षिप्त लक्षण हो नहीं सक्ता क्योंकि प्रेमकी सीमा नियमित नहीं है, और प्रेमका अधिकार पशु पक्षी जड चेतन सभीके उपर है। प्रेमके संबंधमें देवर्षि नारदजीकी उक्ति है—

" अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपं मूकास्वादनवत् । "

मूक व्यक्ति मिश्रीकी डली खाकर उसके मिठासके विषयमें कुछ भी कह नहीं सक्ता ऐसे ही प्रेमका स्वरूप भी अनिर्वचनीय है, उसका वर्णनभी कोई नहीं कर सक्ता, क्योंकि प्रकृतिका नियम है कि, " समझा सो खामोश हुआ " जब कोई व्यक्ति प्रेमके तत्त्वको समझ लेता है तब उसका यथार्थ वर्णन उससे करते नहीं बनता, इसीसे वह चुप हो रहता है। प्रेमकी उत्कृष्टताके विषयमें एक अँग्रेजकविकी उक्ति है कि—

" It is better to have loved and lasted then never to have loved at all, "

बिल्कुल प्रेम न करनेकी अपेक्षा यह बहुत अच्छा है कि किसीसे प्रेम करै चाहे उसमें प्राणान्तही क्यों न हो जाय।

" दर्शने स्पर्शने वापि श्रवणे भाषणे तथा ।
यत्र द्रवत्यन्तरंगं स स्नेह इति कथ्यते ॥ "

किसीके अवलोकन करने वा स्पर्श करनेसे किसीसे बोलने या उसकी बात सुननेसें जो हृदय द्रवीभूत होने लगता है उसी सरसताका नाम प्रेम है।

" प्रेम एव परो धर्मः " के आधारपर कोई २ तो प्रेमको परमधर्म मानते हैं, परन्तु हम " रसो वै सः " इस श्रुतिके आधारसे प्रेमको परमात्माहीका स्वरूप मानते हैं, परमात्मा और प्रेम दोनों ही निराकार शक्तिशाली और अनिर्वचनीय हैं।

प्रेमके कई भाग हैं (१) स्नेह या वत्सलता उस प्रेमका नाम है जो पुत्र अथवा शिष्य आदि अपनेसे छोटोंके प्रति किया जाता है। (२) प्रीति या मैत्री उस प्रेमको कहते हैं जो समवयस्क अथवा सदा साथ रहनेवाले या एक पेशेवालोंके साथ अथवा स्त्री पुरुषोंमें होता है, शुद्ध

प्रेमके दो अवान्तरभेद और भी हैं, और उनकी गणना सबसे उन्नत श्रेणीमें की जा सक्ती है, उनमेंसे एक प्रेम तो भगवत्संबंधी होता ह उसे भक्ति कहते हैं, और दूसरा लौकिक प्रेम है, इन दोनों प्रेमोंकी दशा बिलकुल एकहीसी होती है, अन्तर केवल इतनाही है कि एकका प्रेमपात्र जगदीश्वर और दूसरेका आधार सांसारिक व्यक्ति होता है। इन दोनोंके उदाहरणके लिये व्रजांगनाओं और लैले मजनूके प्रेमको उपस्थित किया जा सक्ता है। प्रेमकी उक्त दोनों ही अवस्थाओंमें प्रेमी "जडोन्मत्तपिशाचवत्" हो जाता है। प्रेमहीसे रसोत्पत्ति होती है, किन्ही २ साहित्यिक आचार्य्योंने प्रेम नामका एक अलगही रस माना है, इसका स्थायिभाव प्रियताजनित स्नेह है, प्रियजन इसके आलंबन विभाव होते हैं, क्योंकि इन्हीका अवलंबन करके वह रस उत्पन्न होता है, प्रियसमागम विनोदपूर्ण आलाप एवं प्रियजनके गुणोंका श्रवण कीर्त्तन और स्मरण आदि इसके उद्दीपन विभाव हैं कारण कि उन्हींके द्वारा रस उद्दीप्त होता है, प्रेमीको सप्रेम अवलोकन करना गद्गद और रोमांचित होजाना इस रसके अनुभव (कार्य्य) हैं। इसके पश्चात् स्मृति हर्ष तथा गर्व आदि जो भाव उत्पन्न होते हैं वेही इसक संचारी (सहायक) भाव हैं।

शकुन्तलाकी बिदाईके समय कालिदासने महर्षिकण्वकी उक्ति द्वारा वृक्षोंके प्रति प्रेमका अनूठाही भाव दिखाया है—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या,
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः,
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥

सच्च प्रेममें बाहरी आडंबरकी आवश्यकता कुछ भी नहीं होती है, उसमें केवल अन्तःकरणके निश्चल भावहीकी प्रधानता रहती है, क्योंकि—ईश्वरीय नियम है—

"न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते॥"

श्रीमद्भागवतकार कहगये हैं कि—

"न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
भावेषु विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम्॥"

यदि भावमय भावना न हो तो तीर्थ एवं देवमूर्तियां भी जल मिट्टी और शिलामयही केवल रह जाती हैं, एवं अन्तःकरणका शुद्ध और सच्चा भाव ईश्वरतकको मोहित कर लेता है ।

यद्यपि प्रेमीके प्रेमके लिये प्रेमीमें कुछ न कुछ आधार तो अवश्य होता है, परन्तु सच्चे प्रेममें गुणोंकी खोज नहीं की जाती,. कारण यह है कि, सत्यप्रेम निःस्वार्थ भावसे किया जाता है और वह उत्तरोत्तर नित्य बढता ही रहता है घटता नहीं, यह अतिसूक्ष्म और बोधगम्य वस्तु है । उर्दूके शायरोंने प्रेमका मुहब्बत और इश्क नाम रखकर उसकी खूबही खाक उडाई है वे कहते हैं—

" कभी चैन मिलता नहीं आशिकोंको,
मुहब्बतमें बस एक मुश्किल यही है ॥ "

अथवा—

" जान ले लेता है आखिरको लगाना दिलका ॥ "

कैसी ढिठाई है, प्रेमकी कितनी बडी अवज्ञा है, जिन कुत्सित प्रेमियोंने प्रेमके विषयमें अपना उद्देश बनाया है कि—

" हम तो मरते हैं इन चारपर नाजपर,
अन्दाज पर, रफ्तारपर गुफ्तारपर "

उन्हींकी जान प्रेममें जाती होगी, सच्चे और दृढ प्रेमियोंकी कदापि नहीं । साहित्यशास्त्रका मत है कि—

" किंच तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः "

जिसमें दुःख होता है उस विषयमें कोई व्यक्तिभी प्रवृत्त नहीं होता, तब यदि प्रेमभी दुःखदायी ही होता तो कोई भी समझदार प्रेमी बननेका प्रयास नहीं करता, परन्तु—होता इसके विरुद्ध है, सभी लोग प्रेमी बननकी चेष्टा किया करते हैं ।

प्रेममें क्या आनन्द होता है उसमें प्रेमीके प्रति कितना अधिक सकाच होता है अथ च प्रेमका ठीक २ लक्षण और वर्णन क्या है ? इन बातोंका यथार्थ वर्णन विना प्रेमी बने कोई भी कर नहीं सक्ता, बल्कि

वर्णन तो प्रेमी भी नहीं करसक्ता किन्तु यथार्थ रूपसे तो स्वयं अनुभव कर सक्ता है।

यदि प्रेममें स्वार्थका संपर्क हो तो वह निकृष्ट समझा जाता है, और यदि निःस्वाथ प्रेम हो तो वह उत्कृष्ट प्रेम कहाता है । स्वार्थकी पूर्ति होतेही स्वार्थ पूर्ण प्रेम अवश्य घटने लगता है।

प्रेमकी उन्नत दशामें प्रेमीको न तो आत्मगौरवहीका ध्यान रहता है और न मनोमहत्त्वका; इसीसे तो राजा दुष्यन्त तपस्वी कण्वकी कुमारिका शकुन्तलासे कहता ह—

" किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातान् संचालयामि नलिनीदलतालवृन्तैः । अंके निधाय करभोरु ! यथासुखं ते संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ ॥ "

प्यारी ! तू कहै तो शीतल कमल पत्रोंसे पवन झलूं और कहे तो अंकमें लेके तेरे कमलसे लाल चरणोंको सुखसे पलोटूं ? देवर्षिनारदजी कहते हैं—

" तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषते तदेव चिन्तयति "

प्रेमपात्रकी प्राप्ति होने पर प्रेमी जन उसीका अवलोकन करता, उसीके वाक्यों अथवा उसके संबंधकी कथाको सुनता, उसीसे बोलता अथवा उसीके विषयकी चर्चा करता और उसीका चिन्तन करता है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

" हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः "

जब प्रेमके आवेशकी वृद्धि होती है तब प्रेमी उन्मत्तकी भांति कभी हँसता कभी रोता कभी चिल्लाता कभी गाता कभी नाचता और अपनी सुधबुध भूल जाता ह । प्रेमकी यथार्थ उन्नत अवस्थाके विषयमें नारदजीकी उक्ति है कि—

" कस्तरति कस्तरति मायां ? यः संगांस्त्यज्यति यो महानुभावं सेवते यो निर्ममो भवति यो विविक्तस्थानं सेवते यो लोकबन्धमुन्मूलयति योगक्षेमं त्यजति वेदानपि संन्यसति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते स तरति स लोकांस्तारयति "

निश्चय रूपसे मायाको कौन जीत सक्ता है ? इसका उत्तर यह है कि—मायाको जीतनेमें वही समर्थ हो सक्ता है जो शुष्क हृदयवालोंका संग त्याग देता, महानुभावोंकी सेवा करता, अन्य सब वस्तुओंके माया मोहको छोड देता, एकान्तमें निवास करता, लौकिक बन्धनोंका उन्मूलन करता, जो योगक्षेम अर्थात् धनसंपात्ति आदिकी चिन्ताको त्याग देता एवं जो वैदिक नियमोंका भी उल्लंघन कर सत्य प्रेमका अनुयायी बना रहता है ऐसा ही प्रेमी अपने प्यारेको प्रसन्न कर सक्ता और वही अपने उपास्यकी उपासनामें कृतकार्य्य हो सक्ता है, एवं दूसरोंको भी कृतकार्य कर सक्ता है, इसीकी पुष्टिके लिये गीतामें श्रीमुखवाक्य है कि—

“ अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ ”

जो लाग सबसे संबंध छोड अनन्यभाव और एक चित्तसे मेरा चिन्तन करते और मुझसे प्रेम करते हैं उनकी सुधि मैं स्वयं लेता हूं ।

य ही प्रेमका माहात्म्य ह । प्रेमपूण कथाका वर्णन करने और प्रमसंबंधी अनूठे भावोंकी कल्पना करनेमें कवि कुलगुरु कालिदास बडे ही प्रवीण और सिद्धहस्त शिल्पी हो गये हैं, उन्होंने अपने काव्यों और अन्य कृतियोंमें प्रेमहीको प्रधानता दी है । उनके कालोंमें मेघदूत और नाटकोंमें अभिज्ञानशाकुन्तलनाटकका सिंहासन सबसे ऊँचा है ।

शकुन्तलानाटकी कथाका आधार महाभारतका इतिहास है ।

राजर्षि विश्वामित्रका तप भंग करनेसे मेनका अप्सरासे जिस पुत्रीका जन्म हुआ था उसीका नाम शकुन्तला ह, वह महर्षिकण्वकी मुँहबोली पुत्री है । तपोवनमें राजा दुष्यन्तसे उसका प्रेम जुडगया परन्तु दुर्वासाके शापसे राजा शकुन्तलाको बिलकुलही भूलगया । कालान्तरमें उसे अपनी दी हुई चिह्नकी अँगूठीका अवलोकन करनेसे राजाको फिर उसकी सुधि आगई; निदान इन्द्रलोकमें फिर दोनोंका संयोग होगया; ये ही शकुन्तलानाटककी संक्षिप्त कथा है । बोलचालकी सभी भाषाओंमें शकुन्तलानाटकके गद्यपद्यात्मक बहुतसे अनुवाद हो चुके हैं, हिन्दीमें भी कई

अनुवाद प्रकाशित हुए हैं, परन्तु राजा लक्ष्मणसिंहका उल्था बहुत बढिया हुआ है ।

संभवत: कोई पच्चीस २९ वर्ष हुए होंगे तब हमने यह प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद तयार किया था परन्तु कई एक कारणोंसे आजतक प्रकाशित करानेका अवसर नहीं आया। अब स्वर्गीय सेठ गंगाविष्णु श्रीकृष्ण-दासजीके लक्ष्मीवेंकटेश्वर यन्त्रालयके वर्त्तमान अधीश्वर श्रीमान् सेठ खेमराजजी श्रीकृष्णदासजीने इस अनुवादको परिवर्द्धित मूलसहित प्रेम-पुरःसर और सादर मुद्रित कर प्रकाशित किया है। अनुवादको उत्तम और सर्वांग सुन्दर बनानेमें हम कहांतक कृतकार्य्य हुए हैं यह बताना हमारा काम नहीं है; हां, यह बता देना हमारा कर्त्तव्य अवश्य है कि हमने इस अनुवादके लिखनेमें प्रान्तीय कई भाषाओंके अनुवादोंसे भी मसाला संग्रह किया है, और उन सज्जनोंके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं जिनकी पुस्तकोंसे मसाला संग्रह करनेमें हमैं सहायता मिली है।

यह नाटक संस्कृतकी कई परिक्षाओंमें नियत है, प्रयाग विश्वविद्या-लयकी स्कूल लींविंग परीक्षामें भी इस नाटकके हिंदी मर्मांशका काम पडता है अत: हमैं आशा है परन्तु प्रस्तुत पुस्तक संस्कृत हिन्दी और अंग्रेजीके छात्रोंके भी उपयोगमें आवेगी. हमने अपनी चिरकालीन प्रथाके अनुसार कई स्थानोंकी मुद्रित पुस्तकोंसे मूलका संशोधन किया है अत: इसमें कई स्थलोंमें उपयुक्त श्लोकों एवं पाठान्तरोंका भी समावेश किया गया है विश्वास है पाठक इस आवृत्तिको अन्य सब आवृत्तियोंकी अपेक्षा विशेष उपयोगी और सुसम्पन्न पावेंगे। यदि पाठकोंने गुण ग्रहण कर इसे अप-नाया जैसा कि हमैं विश्वास है तो हम शीघ्रही कालिदासके अन्यग्रन्थोंके भाषान्तरभी पाठकोंकी भेंट करेंगे.

७ माघकृष्ण १९७३
१९ जनवरी १९१७
सोमवार.

सम्पादक और अनुवादक
व्रजरत्नभट्टाचार्य्यः
मुरादाबाद यू. पी.

ग्रन्थालंकारश्लोकाः ।

विघाटितारो ग्रन्थानां सर्वेषामथसन्धयः ।
विमत्सरा वाग्मिनश्च कवयः साधुसम्मताः ॥ १ ॥
कृतकुक्कुटव्रताश्चैव त्यक्तबैडालवृत्तयः ।
सततं क्रतुकर्त्तारो विद्यावन्तो यशस्विनः ॥ २ ॥
सर्गादौ समजायन्त कमठाम्याश्च गुर्जराः ।
परिवादपराचानचतसा हि द्विजातयः ॥ ३ ॥
आसीत् कुलपतिस्तत्र विद्वद्रत्नमहाशयः ।
विद्याचुंचू राजमान्यो राधाकृष्णाभिधः कविः ॥ ४ ॥
तद्वंशे श्रीनूपजीधर्मदत्तौ ज्योतिःशास्त्रे लब्धकीत्ता किलास्ताम् ।
तारुण्ये वै कोविदो धमदत्तः स्वर्ग ह्यातिघायजूकप्रबहः ॥ ५ ॥
सुतावभूतां किल धार्मिकस्य भुत्, वदान्यकौ चन्द्रमणिश्च प्राणमुद् (प्राणसुखः)।
अनूपदत्तस्वकुलप्रकाशकौ सुराजमान्यौ कविताविलासना ॥ ६ ॥
श्रीमद्भूदेववंशप्रथितगुणगणाभूषणाभूषितांगो
गोषट्कर्मार्चनादिष्वविरतनिरतश्चान्द्रमणिभूमिरत्नम् ।
श्रीमच्चन्द्रार्द्धचूडामणिपदकमलाराधनाच्छुद्धबुद्धिः
ज्वालानाथः कवीन्द्रो ह्यजनि जनकजाजानिपादप्रसादात् ॥ ७ ॥
तत्सूनुना व्रजरत्नभट्टाचार्य्येण निर्मितम् ।
मनोरमाख्यं व्याख्यानं विद्वन्मार्गानुसारिणा ॥ ८ ॥
सौजन्यसौरभ्यभरैर्लसन्तः तुष्यन्तु पीत्वा रसमस्य सन्तः ।
दौजर्न्यतो मां सुतरां हसन्तः सन्तोषमेष्यन्तितमामसन्तः ॥ ९ ॥
गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥ १० ॥
सन्ति श्वान इवोद्वान्तभोजिनः किल पंडिताः ।
स्वकीयबलवान् विद्वाञ्छरभः कोऽपि दुर्लभः ॥ ११ ॥

व्रजरत्नभट्टाचार्य्यः.

अभिज्ञानशाकुन्तलनाटकस्थश्लोकाना-मकारादिक्रमेणानुक्रमणिका ।

इति श्लोकानुक्रमणिका समाप्ता ।

श्रीः ।

अभिज्ञानशाकुन्तलनाटकम् ।

मनोरमाख्यया भाषाव्याख्यया समलंकृतम् ।

प्रस्तावना ।

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥ १ ॥

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये, यदि नेपथ्यविधानमवसितम्, इतस्तावदागम्यताम् ।

प्रस्तावना ।

विधाताने सबसे प्रथम जिसे रचा अर्थात्–जल, जो विधिवत् दान किये हुए हविको ग्रहण करता है अर्थात्–अग्नि, जो यज्ञकर्त्ता अर्थात्–होत्री है, जो दोनों समयका विधान करते हैं अर्थात्–सूर्य और चन्द्रमा, और वोह सर्वव्यापक जिसका शब्दगुण है अर्थात्–आकाश, एवं वोह कि जिसकी प्रकृति बीज कहे जाते हैं अर्थात्–भूमि, और वोह कि जिससे प्राणी प्राणवान् हैं अर्थात्–पवन, इन आठ मूर्त्तियोंके द्वारा प्रत्यक्ष हुए भगवान् महादेवजी आपकी रक्षा करैं ॥ १ ॥

(नान्दीके अनन्तर)

सूत्रधार--(नेपथ्यकी ओर देखकर) प्रिये ! यदि शृंगार कर चुकी हो तो अब यहां आओ ।

---

१ आशीर्नमस्क्रियारूपः श्लोकः काव्यार्थसूचकः । नान्दीति कथ्यते पूर्वैस्तस्मान्नाट्येषु पठ्यते ॥ १ ॥

२ वर्तनीयतया सूत्रं प्रथमं येन सूच्यते । रंगभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते ॥ १ ॥

(प्रविश्य)

नटी—अज्जउत्त, इयं ह्मि । आणवेदु अज्जो को णिओओ आणुचिट्ठि अदुत्ति । [आर्यपुत्र, इयमस्मि । आज्ञापयतु आर्यः को नियोग अनुष्ठीयतामिति]

सूत्रधारः—आर्ये, अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम् । अद्य खलु कालिदासग्रथितवस्तुनाभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः । तत्प्रातिपात्रमाधीयतां यत्नः ।

नटी—सुविहिदप्पओअदाए अज्जस्स ण किं वि परिहाइस्सादि । [सुविहितप्रयोगतयार्यस्य न किमपि परिहास्यते]

सूत्रधारः—(विहस्य) आर्ये, कथयामि ते भूतार्थम् ।
आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।
बलवदापि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥ २ ॥

नटी—(सविनयम्) अज्ज, एवं णेदम् । अणन्तरकरणिज्जं अज्जो आणवेदु । [आर्य, एवमेतत् । अनन्तरकरणीयमार्य आज्ञापयतु]

(आनकर)

नटी—आर्यपुत्र । मैं यह हूं । बताइये आर्य्य । किस खेलका अभिनय करैं ?

सूत्रधार—प्रिये ! यह सभा जैसी चाहिये गठित है । सो आज हमें कालिदासनिर्मित अभिज्ञानशाकुन्तल नामवाले नवीन नाटकका अभिनय करना है । इस हेतु सब पात्रोंको सावधान होकर खेलना चाहिये।

नटी—अच्छी प्रकार कार्य करनेके कारण आपके किसी कार्यकी हँसी नहीं हो सक्ती ।

सूत्रधार—(हँसकर) प्यारी । तुम्हें सिद्धान्त सुनाता हूं ।

जबतक सज्जनोंके चित्तको सन्तोष न हो तबतक नाट्यकार्यकी चातुरी नहीं मानी जा सक्ती, क्योंकि अच्छे ढंगसे सीखे हुए पात्रोंको भी अपने विषयमें अविश्वासही बना रहता है (कि खेल अच्छा कर सकेंगे अथवा नहीं) ॥ २ ॥

नटी—(नम्रतासे) आर्य ! यह सच है । इसके पश्चात् क्या करना है सो आज्ञा करिये ।

सूत्रधार—किमन्यदस्याः परिषदः श्रुतिप्रसादनतः । तदिममेव तावदचिरप्रवृत्तमुपभोगक्षमं ग्रीष्मसमयमाधिकृत्य गीयताम् ॥ संप्रति हि ।

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गिसुरभिवनवाताः ।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसा परिणामरमणीयाः ॥ ३ ॥

नटी—तह । [तथा] (इति गायति)

ईसीसिचुम्बिआइं भमरेहिं सुउमारकेसरसिहाइं ।
ओदंसयन्ति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइं ॥ ४ ॥
[ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि ।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि ॥]

सूत्रधारः—आर्ये, साधु गीतम् । अहो रागवद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव विभाति सर्वतो रङ्गः । तदिदानीं कतमत्प्रकरणमाश्रित्यैनमाराधयामः ।

सूत्रधार—इससे अधिक और क्या कि इस सभाके कानोंको सुख दो सो इसी समय जिसका उपभोग प्रवृत्त हुआ है ऐसे ग्रीष्मकालहीको लेके कुछ गाना चाहिये ।

इस समय तो दिन ढले सायंकाल कैसा सुहावना लगता है, जलमें स्नान करनेकी रुचि होती है, जंगली वायु पाटलके पुष्पोंकी सुगन्धिसे महकती रहती है, और छायावाले स्थानोंमें निद्रा सुखसे आती है ॥३॥

नटी—ऐसाही है । (गाती है)

भ्रमरगण सुकुमार नागकेसरको शनैः २ चुंबन करते हैं, और दयावती स्त्रियें सिरसके फूलोंसे शृंगारकी रचना करती हैं ॥ ४ ॥

सूत्रधार—प्रिये ! अच्छा गाया !! अहा ! ! ! चित्तवृत्ति एकाग्र हो जानेके कारण रंगभूमि सब ओरसे चित्रलिखितसी दीखती है । अब बताओ ! किस प्रकरणको लेके इसे रिझावें ।

नटी—ण अज्जमिस्सेहिं पढमं एव्व आणत्तं अहिण्णाणसाउन्दलं णाम अपुव्वं णाडअं पओए अधिकरीअदुत्ति । [नन्वार्यमिश्रैः प्रथममेवाज्ञप्तमाभिज्ञानशाकुन्तलं नामापूर्वं नाटकं प्रयोगेऽधिक्रियतामिति]

सूत्रधारः—आर्ये, सम्यगनुबोधितोऽस्मि अस्मिन्क्षणे विस्मृतं खलु मया । कुतः ।

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः ।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥ ५ ॥

(इति निष्क्रान्तौ)

इति प्रस्तावना ।

नटी--क्या ? आप तो प्रथमही कह चुके हैं कि अभिज्ञानशाकुन्तल नाम नये नाटकका प्रयोग किया जायगा ।

सूत्रधार—प्रिये ! भली सुधि दिलाई । इस समय तो मैं सचमुच भूलही गया था । क्यों कि ।

तेरा मनोहर गीत मेरे मनको बरजोरी ऐसा खैंच ले गया जैसे कि राजा दुष्यन्तको यह हिरन झटपट यहां ले आया ॥ ५ ॥

(यों कहकर दोनों चले गये)

प्रस्तावना समाप्त ।

प्रथमोऽङ्कः ।

(ततः प्रविशति मृगानुसारी सशरचापहस्तो राजा रथेन सूतश्च)

सूतः—(राजानं मृगं चावलोक्य) आयुष्मन्,

कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके ।
मृगानुसारिणं साक्षात्पश्यामीव पिनाकिनम् ॥ ६ ॥

राजा—सूत, दूरममुना सारङ्गेण वयमाकृष्टाः । अयं पुनरिदानीमपि ।

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥ ७ ॥

(सविस्मयम्) तदेष कथमनुपतत एव मे प्रयत्नप्रेक्षणीयः संवृत्तोऽयं मृगः ।

प्रथम अंक ।

(फिर राजा रथमें बैठा धनुष बाण हाथमें लिये और सूत
मृगके पीछे २ आते हैं)

सूत-(राजा और मृगको देखकर) हे आयुष्मन् !

जब कृष्ण मृग और आप धनुषधारीके ऊपर मैं दृष्टि डालता हूं तब ऐसे देखता हूं मानो साक्षात् महादेवजी मृगके पीछे २ जा रहे हैं ॥६॥

राजा-सूत ! यह हिरन तो हमें दूर खींच लाया । और यह फिर अबभी ।

यह मृग बार २ गर्दन मोड २ पीछे आते रथको अवलोकन करता है, बाण लगनेके भयसे पिछले आधे शरीरको बहुत कुछ शिरमेंको सिकोडके मिला लेता है, थककर फैले हुए मुखमेंसे अधचबी दाभ मार्गमें बिखरी पडी है और देखो लंबी २ कुलांचोंसे पृथिवीपर तो बहुत कम किन्तु आकाशहीमें दौडता है ॥ ७ ॥

(चकित होकर) लो अब क्या करें, यह मृग अब तो हमें दीखतातकभी बडी कठिनतासे है ।

सूतः—आयुष्मन्, उद्घातिनी भूमिरीति मया रश्मिसंयमनाद्रथस्य मन्दीकृतो वेगः तेन मृग एष विप्रकृष्टान्तरः। संप्रति समदेशवर्त्ती न ते दुरासदो भविष्यति।

राजा—तेन हि मुच्यन्तामभीषवः।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान्। (रथवेगं निरूप्य) आयुष्मन् पश्य पश्य।

मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया
निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः।
आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलङ्घनीया
धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः॥ ८॥

राजा—(सहर्षम्) सत्यम्। अतीत्य हरितो हरींश्च वर्तन्ते वाजिनः। तथा हि।

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां
यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसंधानमिव तत्।
प्रकृत्या यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयो-
र्न मे दूरे किंचित्क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात्॥ ९॥

सूत—हे आयुष्मन्! भूमि ऊंची नीची होनेसे मैंने बाग (लगाम) रोककर रथका वेग मन्द कर दिया था अत एव मृगभी दूर चला गया। अब समान भूमी आयी अब आपको सुखहीसे मिल जायगा।

राजा—तौ अब घोडोंकी रास छोडो।

सारथि—महाराजकी जो आज्ञा। (रथका वेग देखकर) देखो आयुष्मन्! देखो।

रास ढीली करतेही अगले शरीरको अकडाकर और कान उठाय वह अश्व ऐसे वेगसे भागते हैं मानो अब हरिनके वेगको नहीं सह सक्ते और वेगके कारण इनकी चमरशिखा (कलँगी) नहीं हिलती, तथा स्वयं उडाई हुई धूलिभी इनक संग नहीं लगती॥ ८॥

राजा—(प्रसन्न होकर) सत्य है। यह घोडे सूर्य तथा इन्द्रके अश्वोंकोभी अतिक्रमण कर रहे हैं। वोही।

जो (वस्तु) देखनेमें सूक्ष्म (पतली) दीखती थी, वोह अब

सूत, पश्यैनं व्यापाद्यमानम्। (इति शरसंधानं नाट्यति)

(नेपथ्ये)

भो भो राजन्, आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।

सूतः—(आकर्ण्यावलोक्य च) आयुष्मन्, अस्य खलु ते बाणपातपथवर्तिनः कृष्णसारस्यान्तरे तपस्विन उपस्थिताः।

राजा—(ससंभ्रमम्) तेन हि प्रगृह्यन्तां वाजिनः।

सूतः—तथा। (इति रथं स्थापयति)

न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः।
क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं
क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते ॥ १० ॥

मोटीसी हुई जाती है, जो बीचसे छिन्न भिन्न दृष्टिगत होती थी अब जुडीसी दीखती है, जो स्वाभाविक टेढी तिर्छी दीखती थी वोह अब समान (सीदी एकसी) दीखती है, इस रथके वेगके आगे मुझे न कुछ दूर है और न कुछ नेरे है ॥ ९ ॥

सूत! देखो यह मुझसे मरा। (यह कह धनुषपर बाण चढाता है)

(नेपथ्यमें)

अजी महाराज! यह आश्रमका मृग है इसे मत मारो मत मारो!

सारथि—(सुनकर और देखकर) राजन्! बाण जानेके बीचमें स्थित आपके और कृष्णसारके अन्तर (मध्य) में यह तपस्वी खडे हैं।

राजा—(चकित होकर) अच्छा तौ अश्वोंको पकड लो।

सारथि—बहुत अच्छा। (यह कह रथको रोकता है)।

मृगके कोमल इस शरीरमें तीक्ष्ण बाण, रूईके ढेरमें अग्निकी समान नहीं त्यागने चाहिये; खेद है कि—कहां तौ हरिनोंका नैकसा जीवन, और कहां आपके तीव्र तथा कठोर यह बाण ॥ १० ॥

१—नाहिंन या मृग मृदुल तन, लगन योग यह बान।
ज्यौं रूईके राशिमें, उचित न धरन कृशान ॥
कहां दीन हरनानके, अतिहीं कोमल प्रान।
यह तीखे तेरे कहां, सायक वज्र समान ॥

(ततः प्रविशत्यात्मना तृतीयो वैखानसः)

वैखानसः—(हस्तमुद्यम्य) राजन्, आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।

तत्साधुकृतसंधानं प्रतिसंहर सायकम्।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि ॥ ११ ॥

राजा—(सप्रणामम्) एष प्रतिसंहृतः। (इति यथोक्तं करोति)

वैखानसः—(सहर्षम्) सदृशमेतत्पुरुवंशप्रदीपस्य भवतः।

जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव।
पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि ॥ १२ ॥

इतरौ—(बाहू उद्यम्य) सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुहि।

राजा—(सप्रणामम्।) प्रतिगृहीतं ब्राह्मणवचः।

वैखानसः—राजन्, समिदाहरणाय प्रस्थिता वयम्। एष खलु कण्वस्य कुलपतेरनुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते। न चेदन्यकार्यातिपातः, प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिथेयः सत्कारः। अपि च।

(इतनेहीमें दो और तीसरे आप वैखानस आते हैं)

वैखानस—(हाथ उठाकर) महाराज ! यह आश्रमका मृग है इसे मत मारना मत मारना।

अत एव भली प्रकार सन्धान करे इस बाणको उतार लो, कारण कि—आपका शस्त्र दुखियोंकी रक्षाके निमित्त है न कि किंचिन्मात्रभी प्रहार करनेके अर्थ ॥ ११ ॥

राजा—(प्रणामपूर्वक) यह उतारा। (ऐसा कह बाण उतारता है)

वैखानस—(प्रसन्न होकर) पुरुवंशके दीपक आपको यही उचित है।

पुरुवंशमें उत्पन्न हुए आपको यही (बाणका उतारनाही) उचित था, अत एव ऐसेही सुन्दर गुणमण्डित पुत्रका तुम्हें लाभ होय ॥ १२ ॥

दूसरे—(बाहु उठाकर) निश्चय चक्रवर्त्ती पुत्र प्राप्त हो।

राजा—(दण्डवत् करके) ब्राह्मणोंके वाक्य स्वीकार हैं।

वैखानस—महाराज ! हम सामिधा लेने जाते हैं अगाडी मालिनी

---

१ लै उतार याते नृपति, भलो चढायो बान।
निर्दोषिन मारक नहीं, यह तारक दुखियान ॥

रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समवलोक्य ।
ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति ॥ १३ ॥

राजा—अपि संनिहितोऽत्र कुलपतिः ।

वैखानसः—इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः ।

राजा—भवतु । तामेव द्रक्ष्यामि । सा खलु विदितभक्तिं मां महर्षेः कथयिष्यति ।

वैखानसः—साधयामस्तावत् । (इति सशिष्यो निष्क्रान्तः)

राजा—सूत, चोदयाश्वान् । पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे ।

नदीके तीरपर हमारे गुरु महर्षि कण्व कुलपतिका आश्रम दीखता है यदि अन्य कार्यका समय न हो तौ चलकर आतिथिसत्कार ग्रहण करो । कारण कि ।

मनोहर तपोवनके ऋषियोंकी निर्विघ्न क्रियाओंको देखकर आप यह जानेंगे कि-प्रत्यञ्चाकी ठेटोंसे अंकित यह हमारी भुजा कितनोंकी रक्षा करती है ॥ १३ ॥

राजा--क्या महर्षिजी आश्रममें हैं ?

वैखानस--अपनी पुत्री शकुन्तलाको आतिथिसत्कारमें नियुक्त कर उसीके दुर्ग्रहोंकी शान्तिके निमित्त अभी सोमतीर्थपर गये हैं ।

राजा--जो हो । उसेही देखूंगा । वोह मेरी भक्ति देख महर्षिसे कहेगी ।

वैखानस--तौ सिद्ध करें । (यह कहकर शिष्योंसहित चले गये)

राजा--सारथि ! अश्वोंको हांको । पवित्र आश्रमके दर्शन कर आत्माको पवित्र करें ।

---

१ मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नदानादिपोषणात् । अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः ॥ १ ॥ जो दश हजार मुनियोंको भोजन वस्त्र देकर अध्ययन कराता है । उस ब्रह्मर्षिको कुलपति कहते हैं ॥

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । (इति भूयो रथवेगं निरूपयति)

राजा—(समन्तादवलोक्य) सूत, अकथितोऽपि ज्ञायत एव यथायमाश्रमाभोगस्तपोवनस्येति ।

सूतः—कथमिव ।

राजा—किं न पश्यति भवान् । इह हि

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः ।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः १४॥

कुल्याम्भोभिः पवनचपलैः शाखिनो धौतमूला
भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन ।
एते चार्वागुपवनभुवि च्छिन्नदर्भाङ्कुरायां
नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति ॥ १५ ॥

सारथि—महाराजकी जो आज्ञा। (यह कहकर फिर रथ हांकता है)

राजा—(चारों ओर देखकर) हे सूत ! यह विना बतायेही तपोवनकी निकटता ज्ञात होती है ।

सारथि—किस प्रकार ?

राजा—क्या तुम नहीं देखते हो यहां ।

सामेकी बालें तोतोंके घोसलोंमेंसे गिर २ कर वृक्षोंके नीचे पडी हैं, कहीं २ हिंगोट पीसनेकी चिकनी शिलायें पडी सूचित होती हैं, विश्वास प्राप्त होनेके कारण यहांके हरिन हमारे आहटसे दूर नहीं भागते, पगडण्डियोंके मार्ग वल्कलवस्त्रोंके किनारोंमेंसे टपकी हुई बूंदोंकी रेखाओंसे अङ्कित हैं ॥ १४ ॥

पवनसे झकोले हुए नहरोंके जलोंसे किनारेपरके वृक्षोंकी जडें धुल गयी हैं, होमका धुआं लगनेसे कोंपल पत्ते धूंधले २ हो गये हैं, दाभ काटी हुई उपवनके निकटकी भूमिमें हरिणोंके बच्चे निःशंक हो मन्द २ विचरते हैं ॥ १५ ॥

सूतः—सर्वमुपपन्नम् ।

राजा—(स्तोकमन्तरं गत्वा) तपोवननिवासिनामुपरोधो मा भूत् तदिहैव रथं स्थापय यावदवतरामि ।

सूतः—धृताः प्रग्रहाः । अवतरत्वायुष्मान् ।

राजा—(अवतीर्य) सूत, विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम । इदं तावद्गृह्यताम् । (इति सूतस्याभरणानि धनुश्चोपनीयापर्यति) सूत, यावदाश्रमवासिनः प्रत्यवेक्ष्याहमुपावर्ते तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः ।

सूतः—तथा । (इति निष्क्रान्तः)

राजा—(परिक्रम्यावलोक्य च) इदमाश्रमद्वारम् । यावत्प्रविशामि (प्रविश्य निमित्तं सूचयन्)

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य ।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥ १६ ॥

सारथि—सब देखा ।

राजा—(कुछ दूर जाकर) तपोवननिवासियोंके कार्यमें विघ्न न हो। अतः यहांही रथ ठहराओ मैं उतर लूं ।

सारथि—रासें खैंच लीं महाराज ! उतर लें ।

राजा—(उतरकर) हे सूत ! तपोवनोंमें विनीत (सादे) वेषसे प्रवेश करना कहा है तबतक यह तुम लिये रहो । (यह कह सारथिको आभूषण और धनुष उतारकर देता है) और जबतक हम आश्रमनिवासियोंके दर्शन कर लौटें तबतक तुम अश्वोंकी पीठ ठण्डी कर लो ।

सारथि—ऐसाही करा जायगा । (यह कहकर जाता है)

राजा—(घूमकर और देखकर) यह आश्रमका द्वार है । इसमें चलूं । (घुसकर शकुनको सूचित करता है)

यह तो शान्त आश्रमका स्थान है मेरी भुजा (दाहिनी) फडकती है यहां इसका फल कहांसे होगा ? अथवा होयभी, कारण कि होनहारके सर्वत्र (सैकडों) द्वार होते हैं ॥ १६ ॥

(नेपथ्ये)

इदो इदो सहीओ । [इत इतः सख्यौ]

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अये, दक्षिणेन वृक्षवाटिकामालाप इव श्रूयते यावदत्र गच्छामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) अये, एतास्तपस्विकन्यकाः स्वप्रमाणानुरूपैः सेचनघटैर्बालपादपेभ्यः पयो दातुमित एवाभिवर्तन्ते । (निपुणं निरूप्य) अहो मधुरमासां दर्शनम् ।

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥ १७ ॥

यावदिमां छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि । (इति विलोकयन्स्थितः)

(ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला)

शकुन्तला—इदो इदो सहीओ । [इत इतः सख्यौ]

अनसूया—हला सउन्दले, तुवत्तो वि तादकण्णस्स अस्समरुक्खआ पिअदरेत्ति तक्केमि । जेण णोमालिआकुसुमपेलवा तुमं वि एदाणं आलवालपूरणे णिउत्ता । [हला शकुन्तले, त्वत्तोऽपि तातकाश्यपस्याश्रमवृक्षकाः प्रियतरा इति तर्कयामि । येन नवमालिकाकुसुमपेलवा त्वमप्येतेषामालवालपूरणे नियुक्ता]

(नेपथ्यमें)

इधर आओ हे प्यारी सखियो ! इधर आओ ।

राजा—(कान लगाकर) अरे ! इस फुलवारीके दक्षिणकी ओर क्या आलापसा सुनाई पडता है ? प्रथम उधरही चलूं (फिरकर और देखकर) अहा, तपस्वियोंकी कन्यायें अपने बलके अनुसार सींचनेके घटोंसे छोटे २ पौधोंको जल देनेके निमित्त इधरही आती हैं । (नेत्र भरकर देखके) ओहो इनका दर्शन मनोहर है ।

आश्रमकी रहनेवाली इन युवतियोंकेसा मनोहर रूप रनवासकी रानियोंमें दुर्लभ है । मानो अपने गुणोंद्वारा वनकी वेलियोंने बगीचोंकी लताओंको लज्जित कर दिया ॥ १७ ॥

अब इस छायाका आश्रम ले खडा रहूं ।(यह कह देखता२ बैठ गया)

(इतनेहीमें दो सखियोंके साथ हाथमें गगरी लिये शकुन्तला आती है)

शकुन्तला—सखियो ! यहां आओ यहां आओ ।

अनसूया—अरी शकुंतला ! मैं जानती हूं पिता कण्वको यह आश्र-

शकुन्तला—अयि, ण केअलं तादणिओओ एव्व । अत्थि मे सोदरसणेहो एदेसु । (इति वृक्षसेचनं रूपयति) [न केवलं तातनियोग एव । अस्ति मे सोदरस्नेह एतेषु]

राजा—(आत्मगतम्) कथमियं सा कण्वदुहिता । (सविस्मयम्) असाधुदर्शी खलु भवान्कण्वः, य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते ।

इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया समिल्लतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥ १८ ॥

भवतु । पादपान्तर्हित एव विस्रब्धं तावदेनां पश्यामि । (इति तथा करोति)

शकुन्तला—सहि अणसूए, अदिपिणद्धेण वक्कलेण पिअंवदाए णिअन्तिद ह्मि । सिढिलेहि दाव णं । [सखि अनसूये, अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियन्त्रितास्मि । शिथिलय तावदेतत्]

मके पौधे तुझसेभी अधिक प्यारे हैं। कारण कि नवीन चमेलीकी समान तुझ कोमलाङ्गीको इनके सींचनेमें नियुक्त कर गये हैं ।

शकुंतला--अरी ! निरी पिताहीकी आज्ञा नहीं मेराभी इनमें सहोदर (माजाये) की समान स्नेह है। (यह कहकर वृक्ष सींचती हैं)

राजा--(आपही आप) क्या यही वोह कण्वकी कन्या है ? (विस्मयसे) वोह कण्वऋषि महा अविवेकी है जो इसको आश्रमधर्ममें नियुक्त करा है ।

स्वाभाविक मनोहर इस अबलासे कण्वऋषि तप करानेकी जो इच्छा करते हैं, मानो ठीक वोह अविवेकी नीलकमलके पत्रकी सदृश तीक्ष्ण धारासे शमीलताको छेदन करनेका उद्योग करते हैं ॥ १८ ॥

भला हो सो हो वृक्षकी आडमें होकर निःशंक इसे देखूं। (यह कहकर यथोक्त व्यापार करता है)

शकुन्तला–अरी अनसूया ! प्रियंवदाने मुझे वल्कलकी चोलीसे कसकर जकड दिया है। प्रथम तू इसे तो ढीली कर दे ।

अनसूया—तह। (इति शिथिलयति) [तथा]

प्रियंवदा—(सहासम्) पओहरवित्थारहेतुअं अत्तणो जोव्वणं उवालह। मं किं उवालहेसि। [अत्र पयोधरविस्तारहेतुकमात्मनो यौवनमुपालभस्व। मां किमुपालभसे]

राजा—सम्यगियमाह।

इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे,
स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन।
वपुरभिनवमस्याः पुष्यति स्वां न शोभां,
कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्रोदरेण ॥ १९ ॥

अथवा। काममनुरूपमस्य वयसो वल्कलं न पुनरलङ्कारश्रियं न पुष्यति कुतः,

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥ २० ॥

अनसूया—करती हूं। (यह कह कंचुकीको ढीला करती है)

प्रियम्वदा—(हँसकर) यहां अपने यौवनको दोष दे जो तेरे उरोजोंके विस्तारका हेतु है। मुझे क्यों दोष लगाती हैं ?

राजा—इसने ठीक कहा।

कन्धोंके ऊपर सूक्ष्म ग्रन्थिसे बँधे हुए तथा स्तनोंकी पुष्टाईको आच्छादन करनेवाले इस वल्कलवस्त्रसे इसका नवीन शरीर इस प्रकार शोभाको पुष्ट नहीं करता जैसे पीले पत्तोंसे आच्छादित हुआ पुष्प ॥ १९ ॥

अथवा माना कि वल्कलवस्त्र इसके शरीरके योग्य नहीं है फिरभी यह नहीं कि शोभाकी वृद्धि न करते हों। क्यों कि,

सरोज (कमल) कींचके साथमेंभी रमणीय लगता है, चन्द्रमाकी श्यामरेखाभी शोभाका विस्तार करती है, यह सूक्ष्मांगी वल्कलवस्त्र पहिरेभी अत्यन्त मनोहर लगती है, ठीक है कि मनोहर मूर्त्तियोंका मण्डनही क्या है ॥ २० ॥

शकुन्तला—(अग्रतोऽवलोक्य) एतो वादेरीदपल्लवङ्गुलीहिं तुवरेदि विअ मं केसररुक्खओ । जाव णं संभावेमि । (इति परिक्रामति) [एष वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव मां केसरवृक्षकः । यावदेनं संभावयामि]

प्रियंवदा—हला सउन्दले, एत्थ एव्व दाव मुहुत्तअं चिट्ठ । जाव तुए उवगदाए लदासणाहो विअ अअं केसररुक्खओ पडिभादि । [हला शकुन्तले, अत्रैव तावन्मुहूर्तं तिष्ठ, यावत्त्वयोपगतया लतासनाथ इवायं केसरवृक्षकः प्रतिभाति]

शकुन्तला—अदो क्खु पिअंवदेत्ति भणीअदी । [अतः खलु प्रियंवदेति भण्यते]

राजा—प्रियमपि तथ्यमाह शकुन्तलां प्रियंवदा । अस्याः खलु

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम् ॥ २१ ॥

अनसूया—हला सउन्दले, इअं सअंवरवहू सहआरस्स तुए किदणामहेआ वणजोसिणित्ति णोमालिया । णं विसुमरिदा सि ।

शकुन्तला—(आगे देखकर) हे सखियो । यह केसरका वृक्ष पवनसे प्रचलित पल्लवरूप अंगुलियों द्वारा मानो मुझे बुलाता है । चलूं इससेभी मिल आऊं (ऐसा कहकर जाती है)

प्रियंवदा—अरी शकुन्तला ! तू क्षणभर यहीं खडी रह । क्योंकि तुझ खडी हुईसे यह केसरका पौधा लतासे वेष्टित हुएकी समान शोभित होता है ।

शकुन्तला—इसीसे तौ तू प्रियम्वदा कही जाती है ।

राजा—प्रियंवदाने शकुन्तलासे बात प्यारी और ठीक कही । इसके ठीक ।

ओठ कोंपलकी समान लाल हैं, दोनों भुजाएँ कोमल शाखाकी समान और मनोहर यौवन प्रत्यंगमें पुष्पकी समान व्याप्त है ॥ २१ ॥

अनसूया—हे शकुन्तला ! इस आमकी स्वयंवरवधू और जिसका तूने वनज्योत्स्ना नाम रक्खा है ऐसी चमेली है । क्या इसे तू भूल गयी ?

[हला शकुन्तले, इयं स्वयंवरवधूः सहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनज्योत्स्नेति नवमालिका। एनां विस्मृतवत्यसि]

शकुन्तला—तदा अत्ताणं वि विसुमरिस्सं। (लतामुपेत्यावलोक्य च) हला, रमणीए क्खु काले इमस्स लदापाअवमिहुणस्स वइअरो संवुत्तो। णवकुसुमजोव्वणा वणजोसिणी, सिणिद्धपल्लवदाए उवभोअक्खमो सहआरो। (इति पश्यन्ती तिष्ठति) [तदात्मानमपि विस्मरिष्यामि। हला, रमणीये खलु काल एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः। नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना, स्निग्धपल्लवतयोपभोगक्षमः सहकारः]

प्रियंवदा—(सस्मितम्) अणसूए, जाणासि किं सउन्दला वणजोसिणिं अदिमेत्तं पेक्खदित्ति। [अनसूये, जानासि किं शकुन्तला वनज्योत्स्नामतिमात्रं पश्यतीति]

अनसूया—ण क्खु विभावेमि। कहे। [न खलु विभावयामि। कथय]

प्रियंवदा—जह वनजोसिणी अणुरूवेण पाअवेण संगदा, अवि णाम एव्वं अहं वि अत्तणो अणुरूवं वरं लहेअंति। [यथा वनज्योत्स्नानुरूपेण पादपेन संगता, अपि नामैवमहमप्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभेयेति]

शकुन्तला--तब तो अपने आपकोभी भूल जाऊंगी (लताके निकट जाकर और देखकर) अहा! भले रमणीक समयमें इस लता और आम्रका मिलाप हुआ है। वनज्योत्स्ना तो अब नवीन पुष्पोंसे नवयौवना हुई, और आमभी नई डालियोंसे उपभोगके योग्य हुआ है। (यह कह देखती हुई खडी रहती है)

प्रियंवदा--(मुसकाकर) अरी अनसूया! तू जानती है कि शकुन्तला वनज्योत्स्नाको क्यों ऐसे चावसे देख रही है?

अनसूया--ना मैं तो नहीं जानती। तू बता।

प्रियंवदा—जैसे कि वनज्योत्स्ना अनुरूप वृक्षसे मिली है ऐसेही मैंभी अपने अनुरूप पतिको प्राप्त करूं।

शकुन्तला—एसो णूणं तुह अत्तगदो मणोरहो । (इति कलशमावर्जयति) [एष नूनं तवात्मगतो मनोरथः]

राजा—अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसंभवा स्यात् । अथवा कृतं संदेहेन ।

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥ २२ ॥

तथापि तत्त्वत एनामुपलप्स्ये ।

शकुन्तला—(ससंभ्रमम्) अम्मो । सलिलसेअसंभमुग्गदो णोमालिअं उज्झिअ वअणं मे महुअरो अहिवट्टइ । (इति भ्रमरबाधां रूपयाति) [अम्मो । सलिलसेकसंभ्रमोद्गतो नवमालिकामुज्झित्वा वदनं मे मधुकरोऽभिवर्तते]

राजा—(सस्पृहम्)

शकुन्तला—ठीक यह तेरे मनका मनोरथ है । (यह कहकर कलशा झुकाती है)

राजा—यह कन्या कहीं दूसरी जातिकी स्त्रीसे तो उत्पन्न न हुई हो? अथवा सन्देहका परित्याग करूं ।

जो कि मेरा पवित्र मन इसमें आसक्त हुआ इससे निःसन्देह यह क्षत्रीके व्याहने योग्य है, क्योंकि संशयापन्न वस्तुओंमें सज्जन जनोंके अन्तःकरणकी प्रवृत्तिही प्रमाण हो जाती है ॥ २२ ॥

तथापि इसका वास्तविक तत्त्व मालूम करूंगा ।

शकुन्तला—(घबडाकर) अये हये । जलके सींचनेसे डरा हुआ यह भ्रमर चमेलीकी वेलीको छोड मेरेही वदन (मुख) पर आता है । (यह कह भौंरेकी बाधा सूचित करती है)

राजा—(इच्छासे)

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥ २३ ॥

शकुन्तला--ण एसो दुट्ठो विरमादि । अण्णदो गमिस्सं। (पदांतरे स्थित्वा सदृष्टिक्षेपम्) कहं इदो वि आअच्छदि । हला, परित्ताअह मं इमिणा दुव्विणीदेण दुट्ठमहुअरेण पडिहूअमाणं। [न एष दुष्टो विरमति । अन्यतो गमिष्यामि । कथमितोऽप्यागच्छति । हला, परित्रायेथां मामनेन दुर्विनीतेन दुष्टमधुकरेण परिभूयमानाम्]

उभे—(सस्मितम्) का वअं परित्तादुं । दुस्सन्दं अक्कन्द। राअरक्खिदव्वाइं तवोवणाइं णाम। [के आवां परित्रातुम्। दुष्यन्तमाक्रन्द । राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम]

राजा--अवसरोऽयमात्मानं प्रकाशयितुम् । न भेतव्यं न भेतव्यम्- (इत्यर्धोक्ते । स्वगतम्) राजभावस्त्वभिज्ञातो भवेत्। भवतु। एवं तावदभिधास्ये।

चंचल कोणोंमें डबडबाते हुए नेत्रोंको तू बार २ स्पर्श करता है, कानके निकट जाकर मर्मकी बात सुनानेवालेकी सदृश मनोहर गुंजार करता है, जबतक यह तुझे हाथोंसे उडाती है तबतक तू ओष्ठोंका रतिसर्वस्व (रस) पीता है, हे भ्रमर ! तूही धन्य है और हम तो इसका तत्त्व (जाति) ही खोजते २ मरे ॥ २३ ॥

शकुन्तला--यह दुष्ट नहीं मानता । कहीं अन्त चलूं (दूसरी ओर खडी हो कटाक्ष करके) क्या इधरभी आ गया । अरी इस दुर्विनीत और दुष्ट मधुकरसे मुझ व्यथित हुईकी रक्षा करो।

दोनों--(मुसकाकर) हम रक्षा करनेवाली कौन हैं। राजा दुष्यन्तको पुकार। तपोवनकी रक्षा राजाही करता है।

राजा--यह समय स्वयं प्रकट होनेका है। डरो मत डरो मत

शकुन्तला—(पदान्तरे स्थित्वा। सदृष्टिक्षेपम्) कहं इदोवि मं अणुसरदि। [कथमितोऽपि मामनुसरति]

राजा—(सत्वरमुपसृत्य)

कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्।
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु ॥ २४ ॥

(सर्वा राजानं दृष्ट्वा किंचिदिव संभ्रान्ताः)

अनसूया—अज्ज, ण क्खु किंवि अच्चाहिदं। इअं णो पिअसही महुअरेण अहिहूअमाणा कादरीभूदा। (इति शकुतलां दर्शयति) [आर्य, न खलु किमप्यत्याहितम्। इयं नौ प्रियसखी मधुकरेणाभिभूयमाना कातरीभूता]

राजा—(शकुन्तलाभिमुखो भूत्वा) अपि तपो वर्धते।

(शकुन्तलावनतमुखी साध्वसादवचना तिष्ठति)

(ऐसा आधाही कहकर आपही आप) मेरा राजभाव प्रकट हो जायगा। जो हो। प्रथम यों कहूं।

शकुन्तला—(दूसरी ओर खडी होकर कटाक्षपूर्वक) कैसी करूं यहांभी मेरे पीछे आगया।

राजा—(झटपट आगे बढकर)

दुर्विनीतोंको शासन करनेवाले मुझ पुरवंशी राजाके भूमिकी पालना करनेपर ऐसा कौन है जो इन मुग्ध तपस्वी कन्याओंमें अन्यायका आचरण करता है ॥ २४ ॥

(सब राजाको देखकर कुछ एक चकराती हैं)

अनसूया—महाराज ! यहां अनीतिकर्त्ता तौ कोई नहीं है। इस हमारी प्यारी सखीको भौंरेने घेर लिया था इससे डर गयी है। (यह कह शकुन्तलाको दिखाती है)

राजा—(शकुन्तलाके अभिमुख होकर) तेरा तप तौ निर्विघ्न होता है ?

(शकुन्तला घबडाके लजातीसी चुप रहती है)

अनसूया––दाणिं अदिहिविसेसलाहेण । हला सउन्दले, गच्छ उडअं । फलमिस्सं अग्घं उवहर । इदं पादोदअं भविस्सदि । (इति घटमवलोकयति) [इदानीमतिथिविशेषलाभेन । हला शकुंतले, गच्छोटजम् । फलमिश्रमर्घमुपहर । इदं पादोदकं भविष्यति]

राजा––भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम् ।

प्रियंवदा––तेण हि इमस्सिं पच्छाअसीअलाए सत्तवण्णवेदिआए मुहुत्तअं उवविसिअ परिस्समविणोदं करेदु अज्जो । [तेन ह्यस्यां प्रच्छायशीतलायां सप्तपर्णवेदिकायां मुहूर्तमुपविश्य परिश्रमविनोदं करोत्वार्यः]

राजा––नूनं यूयमप्यनेन कर्मणा परिश्रान्ताः ।

अनसूया––हला सउन्दले, उदइं णो पज्जुवासणं अदिहीणं । एत्थं उवविसह्म । (इति सर्वा उपविशन्ति) [हला शकुंतले, उचितं नः पर्युपासनमतिथीनाम् । अत्रोपविशामः]

शकुन्तला––(आत्मगतम्) किं णु क्खु इमं जणं पेक्खिअ तवोवणविरोहिणो विआरस्स गमणीअह्मि संवुत्ता । [किं नु खल्विमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता]

अनसूया––अब विशेष अतिथिके समागमसे । अरी शकुन्तला! पर्णशालाको जा फलयुक्त अर्घ ले आ । चरण पखारनेको जल तौ यह होगा । (यह कह कलशोंकी ओर देखती है)

राजा––तुम्हारे मीठे वचनोंहीसे अतिथिसत्कार हो गया ।

प्रियंवदा––तो महाराज ! इस सप्तच्छदके नीचे घनी छायासे शीतल वेदी (चौतरिया) पर घडी एक बैठकर थकाहट दूर कर लो ।

राजा––तुमभी तौ इस कार्यसे थक गयी होंगी ।

अनसूया––अरी शकुन्तला ! हमें अतिथियोंकी उपासना करनी उचित है । आओ यहां बैठें । (यह कहकर सब बैठती हैं)

शकुन्तला––(मनही मनमें) इस जनको देखकर मैं तपोवन विरोधी विकारसे युक्त कैसे हो गयी ?

राजा—(सर्वा विलोक्य) अहो समवयोरूपरमणीयं भवतीनां सौहार्दम् ।

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) अणसूये, को णु क्खु एसो चउरगम्भीराकिदी चउरं पिअं आलवन्तो पहाववन्दो विअ लक्खीअदि। [अनसूये, को नु खल्वेष चतुरगम्भीराकृतिश्चतुरं प्रियमालपन्प्रभाववानिव लक्ष्यते]

अनसूया—सहि, मम वि अत्थि कोदूहलं। पुच्छिस्सं दाव णं। (प्रकाशम्) अज्जस्स महुरालावजणिदो वीसम्भो मं मन्तावेदि कदमो अज्जेण राएसिणो वंसो अलंकरीअदि, कदमो वा विरहपज्जुस्सुअजणो किदो देसो, किंणिमित्तं वा सुउमारदरो वि तवोवणगमणपरिस्समस्स अत्ता पदं उवणीदो । [सखि, ममाप्यस्ति कौतूहलम् । पृच्छामि तावदेनम् । आर्यस्य मधुरालापजनितो विस्रम्भो मां मन्त्रयते कतम आर्येण राजर्षेर्वंशोऽलंक्रियते, कतमो वा विरहपर्युत्सुकजनः कृतो देशः, किंनिमित्तं वा सुकुमारतरोऽपि तपोवनगमनपरिश्रमस्यात्मा पदमुपनीतः]

राजा—(सबको देखकर) तुम समान वयसवालियोंका प्रेम मनोहर रूपसे अतिरमणीय लगता है।

प्रियंवदा—(हौले हौले) अनसूये! यह कौन प्रतापीसा मनोहर और गंभीर आकृतिवाला चतुरतासे प्यारा संभाषण करता दीखता है।

अनसूया—सखि! मुझेभी कौतूहल है। कुछ इन्हींसे पूछूं। (प्रगट) महाशय! आपके मधुर वचनोंसे उत्पन्न हुआ विश्वास मुझे प्रेरणा करता है कि आप कौनसे राजर्षिवंशको सुशोभित करते हैं और कौनसे देशके प्रजाजनोंको विरहसे व्याकुल किया है, किस कारण तुमने अतिकोमल गातको तपोवनके परिश्रमसे पीडित किया है।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) हिअअ, मा उत्तम्म। एसा तुए चिन्तिदाइं अणसूआ मन्तेदि। [हृदय, मोत्ताम्य। एषा त्वया चिन्तितान्यनसूया मन्त्रयते]

राजा—(आत्मगतम्) कथमिदानीमात्मानं निवेदयामि, कथं वात्मापहारं करोमि। भवतु। एवं तावदेनां वक्ष्ये। (प्रकाशम्) भवति, यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः सोऽहमविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः।

अनसूया—अज्ज सणाहादाणिं धम्मआरिणो। [अद्य सनाथा इदानीं धर्मचारिणः]

(शकुन्तला शृङ्गारलज्जां रूपयति)

सख्यौ—(उभयोराकारं विदित्वा। जनान्तिकम्) हला सउन्दले जइ एत्थ अज्ज तादो संणिहिदो भवे। [हला शकुंतले, यद्यत्राद्य तातः संनिहितो भवेत्]

शकुंतला—(सरोषम्) तदो किं भवे। [ततः किं भवेत्]

शकुन्तला—(आपही आप) हृदय ! उतावल मत कर। तेरी चिन्ताको यह अनसूयाही पूछ रही है !

राजा—(आपही आप) अब मैं अपनेको कैसे बताऊं। अथवा कैसे अपनेको दुराऊं ! जो हो। अब इससे यौं कहूं। (प्रकाश) हे कुमारि ! पुरवंशीराजाने जिसे धर्मकार्यमें नियुक्त करा है वोह मैंही हूं, क्रियाओंके विघ्नका निश्चय करनेको तपोवनमें आया हूं।

अनसूया—आज धर्मचारी सनाथ हुए।

(शकुन्तला मोहित होती और लजाती है)

सखियें—(दोनोंके भावोंको जानकर। हौले हौले) अरी शकुन्तला! यदि आज यहां पिताजी उपस्थित होते।

शकुन्तला—(रिसाकर) तौ क्या होता।

सख्यौ--इमं जीविदसव्वस्सेण वि अदिहिविसेसं किदत्थं करिस्सदि । [इमं जीवितसर्वस्वेनाप्यतिथिविशेषं कृतार्थं करिष्यति]

शकुन्तला--तुह्मे अवेध । किं वि हिअए करिअ मन्तेध । ण वो वअणं सुणिस्सं । [युवामपेतम् । किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयेथे । न युवयोर्वचनं श्रोष्यामि]

राजा—वयमपि तावद्भवत्योः सखीगतं किञ्चित् पृच्छामः ।

सख्यौ—अज्ज, अणुग्गहो विअ इअं अब्भत्थणा । [आर्य, अनुग्रह इवेयमभ्यर्थना]

राजा—भगवान्कण्वः शाश्वते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाशः । इयं च वः सखी तदात्मजेति कथमेतत् ।

अनसूया--सुणादु अज्जो । अत्थिको वि कोसिओत्ति गोत्तणामहेओ महाप्पहावो राएसी । [श्रृणोत्वार्यः । अस्ति कोऽपि कौशिक इति गोत्रनामधेयो महाप्रभावो राजर्षिः]

राजा--अस्ति । श्रूयते ।

सखियें--तो इस अनोखे अतिथि को प्राणोंसेभी प्यारी वस्तु देकर कृतार्थ करते ।

शकुन्तला--चलो परे हठो । तुम मनमें बनाकर कुछ कहती हो । मै तुम्हारे वचन न सुनूंगी ।

राजा—अब हमभी तुम्हारी सखीका कुछ वृत्तान्त पूछते हैं ।

सखियें—आर्य ! आपका यह पूछनाभी अनुग्रहही है ।

राजा--भगवान् कण्वऋषि तो सदासे ब्रह्मचर्यमें स्थित प्रसिद्ध हैं । यह तुम्हारी सखी उनकी कन्या कैसे है ?

अनसूया—सुनो महाराज ! कोई कुशिकवंशोत्पन्न महाप्रतापी कौशिक राजर्षि हैं ।

राजा—हैं । सुने गये हैं ।

अनसूया—तं णो पिअसहीए पहवं अवगच्छ। उज्झिआए सरीरसंवड्ढणादिदिहिं तादकण्णो से पिदा। [तमावयोः प्रियसख्याः प्रभवमवगच्छ। उज्झितायाः शरीरसंवर्धनादिभिस्तातकण्वोऽस्याः पिता]

राजा—उज्झितशब्देन जनितं मे कौतूहलम्। आ मूलाच्छ्रोतुमिच्छामि।

अनसूया—सुणादु अज्जो। गोदमीतीरे पुरा किल तस्स राएसिणो उग्गे तवसि वट्टमाणस्स किंवि जादसङ्केहिं देवेहिं मेणआ णाम अच्छरा पेसिदा णिअमविग्घकारिणी। [श्रृणोत्वार्यः। गौतमीतीरे पुरा किल तस्य राजर्षेरुग्रे तपसि वर्तमानस्य किमपि जातशंकैर्देवैर्मेनका नामाप्सराः प्रेषिता नियमविघ्नकारिणी]

राजा—अस्त्येतदन्यसमाधिभीरुत्वं देवानाम्। ततस्ततः।

अनसूया—तदो वसन्तोदारसमए से उम्मादइत्तअं रूवं पेक्खिअ—(इत्यर्धोक्ते लज्जया विरमति) [ततो वसन्तोदारसमये तस्या उन्मादयितृ रूपं प्रेक्ष्य]

अनसूया—उन्हींको हमारी प्यारी सखीका उत्पत्तिस्थान जानो। पडी हुईके पालने पोसनेसे पिता कण्व इसके पिता हैं।

राजा—पडी हुई सुनकर मुझे आश्चर्य होगया। मेरी जडसे सुननेकी इच्छा है।

अनसूया—सुनिये आर्य! कहते हैं कि प्रथम गौतमी नदीके तीरपर उग्र तपमें वर्तमान उन राजर्षिके नियममें विघ्न करनेवाली मेनका नामकी अप्सरा देवताओंने कुछ शंका मानकर भेजी।

राजा—औरोंकी समाधिसे डर जाना यह देवताओंका स्वभावही है। फिर क्या हुआ?

अनसूया—तब सुहावने वसन्तसमयमें उसके मनमोहन रूपके देखतेही (यह आधाही कह लज्जासे सकुचती है)

राजा—परस्ताज्ज्ञायत एव। सर्वथाप्सरःसंभवेषा।

अनसूया—अह इं। [अथ किम्]

राजा—उपपद्यते। अन्यथा

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥ २९ ॥

(शकुन्तला सव्रीडाधोमुखी तिष्ठति)

राजा—(आत्मगतम्) लब्धावकाशो मे मनोरथः। किंतु सख्योः परिहासोदाहृतां वरप्रार्थनां श्रुत्वा धृतद्वैधीभावकातरं मे मनः।

प्रियंवदा—(सस्मितं शकुन्तलां विलोक्य राजाभिमुखी भूत्वा) पुणो वि वत्तुकामो विअ अज्जो। [पुनरपि वक्तुकाम इवार्यः]

(शकुन्तला सखीमंगुल्या तर्जयति)

राजा--आगेका सब जानही लिया। सर्वथा अप्सरासे इसकी उत्पत्ति है।

अनसूया--हां जी (और क्या)

राजा--ठीक है। नहीं तो।

मनुष्यजातिकी स्त्रियोंमें ऐसे रूपका होना संभव कैसे हो सक्ता है, कारण यह है कि चपलाकी दमकीली चमक (ज्योति) भूतलसे उत्पन्न नहीं होती ॥ २९ ॥

(शकुन्तला लज्जासे मुखको नीचेही कर बैठती है)

राजा--(आपही आप) हमारा मनोरथ सिद्ध हुआ चाहता है। परन्तु हास्यसे कही हुई वरप्रार्थनाको सखीसे सुनकर मेरा मन दुविधामें पकडर अधीर होता है।

प्रियंवदा--(शकुन्तलाको देखकर राजाकी ओर होके) आर्य ! कुछ औरभी कहनेकी इच्छा है।

(शकुन्तला सखीको अंगुलीसे झिडकती है)

राजा—सम्यगुपलक्षितं भवत्या। अस्ति नः सच्चरितश्रवणलोभादन्यदपि प्रष्टव्यम्।

प्रियंवदा—तेणहि पुणो अलं विआरिअ। अणिअन्तणाणुओओ तवस्सिअणो णाम। [तेन हि पुनः अलं विचार्य। अनियन्त्रणानुयोगस्तपास्विजनो नाम]

राजा—इति सखीं ते ज्ञातुमिच्छामि।

वैखानसं किमनया व्रतमा प्रदाना-
व्द्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभि-
राहो निवत्स्याति समं हरिणाङ्गनाभिः॥ २६॥

प्रियंवदा—अज्ज, धम्माचरणे वि परवसो अअं जणो। गुरुणो उण से अणुरूववरप्पदाणे संकप्पो। [आर्य, धर्माचरणेऽपि परवशोऽयं जनः। गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने संकल्पः]

राजा—तुमने ठीक समझा। मुझे सच्चरित्र सुननेके लोभसे औरभी पूछना है।

प्रियंवदा—तौ फिर सोच विचारसे क्या? तपस्वा जनोंसे बेधडक पूछ लेना चाहिये।

राजा—तुम्हारी सखीका यह और पूछा चाहता हूँ यह (शकुन्तला) कामदेवके व्यापारका अवरोध करनेवाली तपश्चर्यारूप इस व्रतका सेवन कन्यादान (विवाह) पर्यन्तही करेगी अथवा तेरे नेत्रोंवाली प्यारी हरिणियोंके साथही जन्मभर (वनमें) निवास करेगी॥ २६॥

प्रियंवदा—अजी! यह व्यक्ति तो धर्माचरण करनेमेंभी परवश है। तिसपरभी पिताने अनुरूप वरके अर्थ प्रदान करनेका संकल्प करा है।

---

१ रतिराजके काज बिगारनको रिपु है वनको व्रत लोक कहे।
यह सुन्दरि प्यारी तिहारी सखी रहि है कहु कौलग ताहि सहे॥
तजि देयगी व्याह भये पै किधौं जब प्रीतम आयके बांह गहे।
तेरे किधौं दृगवारी मृगीनमें जन्म वितावति यौंही रहे॥

राजा—न दुरवापेयं खलु प्रार्थना । (आत्मगतम्)

भव हृदय साभिलाषं संप्रति संदेहनिर्णयो जातः ।
आशंकसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम् ॥ २७ ॥

शकुन्तला—(सरोषमिव) अणसूए, गमिस्सं अहं । [अनसूये, गमिष्याम्यहम्]

अनसूया—किंणिमित्तं । [किंनिमित्तम्]

शकुन्तला—इमं असंबद्धप्पलाविणिं पिअंवदं अज्जाए गोदमीएणिवेदइस्सं । [इमामसंबद्धप्रलापिनीं प्रियंवदामार्यायै गौतम्यै निवेदयिष्यामि]

अनसूया—सहि, ण जुत्तं अकिदसक्कारं अदिहिविसेसं विसज्जि असच्छन्ददो गमणं [सखि, न युक्तमकृतसत्कारमतिथिविशेषं विसृज्य स्वच्छन्दतो गमनम्]

(शकुन्तला न किंचिदुक्त्वा प्रस्थितैव)

राजा—(ग्रहीतुमिच्छन्निगृह्यात्मानम् । आत्मगतम्) अहो, चेष्टाप्रतिरूपिका कामिजनमनोवृत्तिः । अहं हि

राजा—यह प्रार्थना तौ पूर्ण होनी कुछ दुस्तर नहीं है । (आपही आप)

हे हृदय ! सन्तुष्ट हो अब सन्देहका निश्चय हो गया, जिसमें तू अग्निकी शंका करता था, वोह गलेमें पहिरने योग्य रत्न निकला॥२७॥

शकुन्तला—(रिससी होकर) अनसूया ! मैं तो जाती हूं ।

अनसूया—क्या कारन ?

शकुन्तला—अनकहनी कहनेवाली इस प्रियंवदाको श्रीमती गौतमीसे कहूंगी ।

अनसूया—सखि ! अतिथिका सत्कार करे विना छोडकर मनमाने चला जाना उचित नहीं ।

(शकुन्तला कुछ न कहकर चलही दी)

राजा—(रोकनेकी इच्छा करता हुआ स्वयं रुककर । आपही आप) आहा ! कामी जनोंके मनकी वृत्ति चेष्टासे झलक जाती है । मैं ही ।

अनुयास्यन्मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः।
स्थानादनुच्चलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः ॥ २८ ॥

प्रियंवदा—(शकुन्तलां निरुध्य) हला, ण दे जुत्तं गन्तुं। [हला, न ते युक्तं गन्तुम्]

शकुन्तला—(सभ्रूभङ्गम्) किंणिमित्तं। [किंनिमित्तम्]

प्रियंवदा—रुक्खसेअणे दुवे धारेसि मे। एहि जाव। अत्ताणं मोचिअ तदो गमिस्ससि। (इति बलादेनां निवर्तयति) [वृक्षसेचने द्वे धारयसि मे एहि तावत्। आत्मानं मोचयित्वा ततो गमिष्यसि]

राजा—भद्रे, वृक्षसेचनादेव परिश्रान्तामत्रभवतीं लक्षये। तथा ह्यस्याः

स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणा-
दद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः।
स्रस्तं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं
बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः॥२९॥

मुनिकन्याके पीछे चला चाहता था कि जितेन्द्रियताने मुझे रोक लिया, यद्यपि स्थानसे नहीं डिगा था तथापि ऐसा ज्ञात होता है मानो कुछेक चलकर लौटके बैठा हूं ॥ २८ ॥

प्रियंवदा—(शकुन्तलाको रोककर) अरी ! तेरा जाना उचित नहीं।

शकुन्तला—(तिर्छी चितवनसे) क्या कारन ?

प्रियंवदा—तुझे दो पौधे सींचनेको और रहे हैं सो आओ प्रथम मेरे इस ऋणको चुका दे तौ चली जाइये। (यह कह बलकर रोकती है)

राजा—वृक्ष सींचनेहीसे तुम्हारी सखी परिश्रान्त (थकीसी) दीखती है। तभी तौ इसके।

कन्धे झुक गये और घडे उठानेसे दोनों हाथोंकी हथेलियें अधिकतर लाल हो गयी हैं, प्रमाणसे अधिक श्वासका आना अभीतक स्तनोंके

तदहमेनामनृणां करोमि। (इत्यंगुलीयं दातुमिच्छति)

(उभे नाममुद्राक्षराण्यनुवाच्य परस्परमवलोकयतः)

राजा—अलमस्मानन्यथा संभाव्य। राज्ञः परिग्रहोऽयमिति राजपुरुषं मामवगच्छथ।

प्रियंवदा—तेण हि णारिहदि एदं अंगुलीअअं अंगुलीविओअं। अज्जस्स वअणेण अणिरिणा दाणिं एसा। (किंचिद्विहस्य) हला सउन्दले, मोइदा सि अणुअम्पिणा अज्जेण, अहवा महाराएण गच्छ दाणिं। [तेन हि नार्हत्येतदंगुलीयकमंगुलीवियोगम्। आर्यस्य वचनेनानृणेदानीमेषा। हला शकुन्तले, मोचितास्यनुकम्पिनार्येण, अथवा महाराजेन। गच्छेदानीम्]

शकुन्तला—(आत्मगतम्) जइ अत्तणो पहविस्सं। (प्रकाशम्) का तुमं विसज्जिदव्वस्स रुन्धिदव्वस्स वा। [यद्यात्मनः प्रभविष्यामि। का त्वं विसर्जितव्यस्य रोद्धव्यस्य वा]

कम्पको उत्पन्न करता है, कर्णफूलके बदलेमें धारण करा हुआ शिरीषपुष्प लटककर मुखके ऊपर पसीनेके बिन्दूसे चिपक गया बन्धनसे स्खलित हुए केश बिखरे हुए एक हाथसे रोक रक्खे हैं ॥ २९ ॥

तस्मात् मैं इसका ऋण उतारूं। (यह कह अंगूठी दिया चाहता है) (दोनों अंगूठीके ऊपर नामके अंकित वर्ण बांचकर परस्पर निहारती हैं)

राजा—हमें और समझकर मत सकुचो। यह हमें राजाके अनुग्रहसे मिली है। हम राजपुरुष हैंही।

प्रियंवदा—तभी तौ इस अंगूठीको अंगुलीसे न्यारी मत करो। आपके वचनोंहीसे यह उरिण होयगी (कुछेक हँसकर) अरी शकुन्तला! इन महाशय वा महाराजने तुझे मुक्त कर दिया अब चली जा।

शकुन्तला—(आपही आप) यदि अपने वशमें रहीं तौ (प्रकट) जाने देनेवाली अथवा रोकनेवाली तू कौन है?

राजा—(शकुन्तलां विलोक्य। आत्मगतम्) किं नु खलु यथा वयमस्यामेवमियमप्यस्मान्प्रति स्यात्। अथवा लब्धावकाशा मे प्रार्थना। कुतः।

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः
कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे।
कामं न तिष्ठति मदाननसंमुखीना
भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः॥ ३०॥

(नेपथ्ये)

भो भोस्तपस्विनः, संनिहितास्तपोवनसत्त्वरक्षायै भवत। प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी पार्थिवो दुष्यन्तः। पश्य,

तुरगखुरहतस्तथा हि रेणुर्विटपविषक्तजलार्द्रवल्कलेषु।
पतति परिणतारुणप्रकाशः शलभसमूह इवाश्रमद्रुमेषु॥ ३१॥

अपि च।

राजा—(शकुन्तलाको देखकर। आपही आप) जैसे कि हम इसमें अनुरागी हैं क्या यहभी हमसे वैसेही प्रेमवती है। अथवा हमारे मनोरथ सफल हो गये। क्योंकि।

यद्यपि यह हमारी बातोंमें बातें नहीं मिलाती तथापि जब मैं संभाषण करता हूं तब मेरीही ओर कान लगाये रहती है यद्यपि मेरेही सामने नहीं बैठती तथापि इसकी दृष्टि और ओर नहीं है॥ ३०॥

(नेपथ्यमें)

अरेरे तपस्वियो! एकत्रित होकर तपोवनके जीवोंकी रक्षा करो। सुनते हैं आखेट करते २ महाराज दुष्यन्त निकटही आ पहुंचे। देखो।

घोडोंके खुरोंसे उडाई गयी धूलि वृक्षोंपर लटकते हुए गीले वल्कल वस्त्रोंके ऊपर गिरती है, सायंकालीन रक्तसूर्यकी समान वोह धूली पतंग [दीमक] के समूहकी समान आश्रमके वृक्षोंके ऊपर गिरती है॥३१॥

औरभी।

तीव्राघातप्रतिहततरुः स्कन्धलग्नैकदन्तः
पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसंजातपाशः ।
मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारंगयूथो
धर्मारण्यं प्रतिशति गजः स्यन्दनालोकभीतः ॥ ३२ ॥

(सर्वाः कर्णं दत्त्वा किंचिदिव संभ्रान्ताः)

राजा—(आत्मगतम्) अहो धिक् । पौरा अस्मदन्वेषिणस्तपोवनमुपरुन्धन्ति । भवतु प्रतिगमिष्यामस्तावत् ।

सख्यौ—अज्ज, इमिणा आरण्णअवुत्तन्तेण पज्जाउल ह्म । अणुजाणाहि णो उडअगमणस्स । [आर्य, अनेनारण्यकवृत्तान्तेन पर्याकुलाः स्म । अनुजानीहि न उटजगमनाय]

राजा—(ससंभ्रमम्) गच्छन्तु भवत्यः । वयमप्याश्रमपीडा यथा न भवति तथा प्रयतिष्यामहे।

(सर्वा उत्तिष्ठन्ति)

राजाके रथसे डरा हुआ यह जंगली हाथी महान् वेगसे वृक्षोंको तोडता एक दांतको कन्धेपर लगाता पैरोंसे घिसटते हुए वेलीके लंगरको लपेटे और हरिणोंके झुण्डोंको तितारता वितारता हमारे तपके लिये साक्षात् विघ्नरूप धर्मवनमें प्रवेश करता है ॥ ३२ ॥

(सब कान लगाकर कुछेक चौंकती हैं)

राजा—(आपही आप) ओहो धिक्कार है । पुरवासी लोगोंने मुझे ढूंढते २ तपोवनको आ घेरा । जो हो । प्रथम इनके पास चलें ।

सखियें—आर्य ! इस जंगली कोलाहलसे हम घबरा गयीं । हमें पर्णशालामें जानेके लिये आज्ञा दीजिये ।

राजा—(भ्रमसे) तुम जाओ । जिस प्रकार कि आश्रमको पीडा न हो हमभी वैसाही उपाय करेंगे ।

(सब उठती हैं)

सख्यौ—अज्ज, असंभाविदअदिहिसक्कारं भूओ वि पेक्खण-णिमित्तं लज्जेमो अज्जं विण्णविदुं। [आर्य, असंभाविताातिथिस-त्कारं भूयोऽपि प्रेक्षणनिमित्तं लज्जावह आर्यं विज्ञापयितुम्]

राजा—मा मैवम्। दर्शनेनैव भवतीनां पुरस्कृतोऽस्मि।

(शकुतला राजानमवलोकयंती सव्याजं विलम्ब्य सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता)

राजा—मन्दौत्सुक्योऽस्मि नगरगमनं प्रति। यावदनुयात्रिका-न्समेत्य नातिदूरे तपोवनस्य निवेशयेयम्। न खलु शक्नोमि शकु-न्तलाव्यापारादात्मानं निवर्तयितुम्। मम हि

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ॥ ३३ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति प्रथमोऽङ्कः।

सखियें--हे आर्य! यथोचित अतिथिसत्कार हमसे न हो सकनेके कारण यह कहती हम लजाती हैं कि कभी फिरभी दर्शन देना।

राजा--नहीं ऐसा नहीं। तुम्हारे दर्शनोंहीसे हमारा सत्कार हो गया।

[अरी अनसूया! एक तो मेरे पांवमें दाबकी अनी चुभ रही है दूसरे कुरबक [कुरै] की डालमें मेरा वल्कल [अंचल] उलझ गया, नैक ठेरो जबतक इसे सुलझालूं। इस प्रकार कहती]

(शकुन्तला राजाकी ओर देखती मिसकर ठिठकती सहेलियोंके साथ चलीगयी)

राजा--नगरके ओर जानेकी उत्कंठा तो मन्द हो गयी। इस कारण नगरनिवासियोंसे मिलकर तपोवनके निकटही टिका दूं। मैं शकुन्तलाके व्यापारसे स्वयं लौटनेके लिये समर्थ नहीं हूं।

मेरा शरीर अगाडीको चलता है परन्तु परवश मन पीछेही लौटता है. जैसे कि--पवनके सन्मुख चलती हुई ध्वजाका वस्त्र [पीछेहीको फैराता है]॥ ३३ ॥

(इस प्रकार सब निकलते हैं)

प्रथम अङ्क समाप्त।

द्वितीयोऽङ्कः।

(ततः प्रविशति विषण्णो विदूषकः ।)

विदूषकः—(निःश्वस्य) भो दिट्ठं । एदस्स मअआसीलस्स रण्णो वअस्सभावेण णिव्विण्णो ह्मि । अअं मओ अअं वराहो अअं सद्दूलो त्ति मज्झण्णे वि गिह्मविरलपाअवच्छाआसु वणराईसु आहिण्डीअदि अडवीदो अडवीं । पत्तसंकरकसाआइं कडुआइं गिरिणईजलाइं पीअन्ति । अणिअदवेलं सुल्लमंसभूइट्ठो आहारो भुञ्जीअदि । तुरगाणुधावणकण्डिदसंधिणो रत्तिम्मि वि णिकामं सइदव्वं णत्थि। तदो महन्ते एव्व पच्चूसे दासीएपुत्तेहिं सउणिलुद्धएहिं वणग्गहणकोलाहलेण पडिबोधिदो ह्मि । एत्तएण दाणिं [भो दृष्टमेतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि। अयं मृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल इति मध्याह्नेऽपि ग्रीष्मविरलपादपच्छायासु वनराजीष्वाहिंडचतेऽटवीतोऽटवी । पत्रसंकरकषायाणि कटूनि गिरिनदीजलानि पीयन्ते अनियतवेलं शूल्यमांसभूयिष्ठ आहारो भुज्यते । तुरगानुधावनकण्डितसंधे रात्रावपि निकामं शयितव्यं नास्ति । ततो महत्येव प्रत्यूषे दास्याः पुत्रैः शकुनिलुब्धकैर्वनग्रहणकोलाहलेन प्रतिबोधितोऽस्मि । इयतेदानीमपि]

(इतनेहीमें उदास हुआ विदूषक आता है)

विदूषक-(ऊंची श्वास लेकर) अरे ! देखा । अहेर करनेमें निरत इस राजाकी मित्रतासे कैसा दुःखी हुआ हूं । दुपहरीमेंभी यह मृग वोह शूकर यह शार्दूल ऐसे कहते २ गरमीसे छिन्नभिन्न छायावाले वृक्षोंके नीचे वनकी कतारोंमें एक वनसे दूसरेमें फिर रहे हैं । पत्ते गिर जानेसे कसैले और कडवे नदियोंके जल पीने पडते हैं । शूलके ऊपर भुना हुआ मांसका भोजन कुसमय मिलता है । घोडोंके पीछे दौडते २ सन्धियें हिलगयीं । रात्रीमेंभी नींदभर सोनेको नहीं मिलता । तिसपरभी बडे भोरही दासीके पुत्र चिडीमारोंने दूसरे वनमें चलनेकी चैंचैं करके

वि पीडा ण णिक्कमादि । तदो गण्डस्स उवरि पिण्डओ संवुत्तो हिओ किल अह्मेसु ओहीणेसु तत्तहोदो मआणुसारेण अस्समप पविट्ठस्स तावसकण्णआ सउन्दला मम अधण्णदाए दंसिदा संपदं णअरगमणस्स मणं कहं वि ण करेदि । अज्ज वि से एव्व चिन्तअन्तस्स अक्खीसु पभादं आसि । का गदी जाव णं किदाचारपरिक्कमं पेक्खामि । (इति परिक्रम्यावलोक्य च) एसो बाणासणहत्थाहिं जहणीहिं वणपुप्फमालाधारिणीहिं पडिवुदो इदो एव्वआअच्छदि पिअवअस्सो । होदु अङ्गभङ्गविअलो विअ भविअ चिठ्ठिस्सं । जइ एव्वं वि णाम विस्समं लहेअं । (इति दण्डकाष्ठमवलम्ब्य स्थितः)

[पीडा न निष्क्रामति । ततो गण्डस्योपरि पिटकः संवृत्त ह्यः किलास्मास्ववहीनेषु तत्रभवतो मृगानुसारेणाश्रमपदं प्रविष्टस्य तापसकन्यका शकुन्तला ममाधन्यतया दर्शिता सांप्रतं नगरगम नस्य मनः कथमपि न करोति । अद्यापि तस्य तामेव चिन्तयतो ऽक्ष्णोः प्रभातमासीत् । का गतिः । यावत्तं कृताचारपरिक्र पश्यामि । एष बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिर्वनपुष्पमालाधारिणीभि परिवृत इत एवागच्छति प्रियवयस्यः । भवतु अङ्गभङ्गविकल इ भूत्वा स्थास्यामि । यद्येवमपि नाम विश्रमं लभेय]

जगा दिया। अब येही पीडा दूर न होती थी इतनेहीमें व्रणमें व्र और हो गया। कल हमसे बिछडकर महाराजने मृगके पीछे २ जा आश्रममें घुसकर मेरे दुर्भाग्यसे शकुन्तला नामक तपस्वीकी कन्य देखी है। अब नगर जानेको मन किसी प्रकारभी नहीं करता। अभी तक उसे विचारते २ उसके नेत्रोंमें भोर होगया जबतक कि, नित्य क्रिया करते न देखूंगा तबतक मेरी क्या गति होगी। हाथमें धनुषबाण धारिन और वनके पुष्पोंकी मालाको धारनेवाली यवनियोंसे घिरा हुअ यह प्रियमित्र इस ओरही आता है। जो हो। मैंभी अंगभंग हो स्थि रहूं। यदि यौंहीं विश्राम मिले! (यौं कह लाठी टेककर खडा होता है)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टपरिवारो राजा)

राजा—

कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनायासि।
अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते ॥ १ ॥

(स्मितं कृत्वा ।) एवमात्माभिप्रायसंभावितेष्टजनचित्तवृत्तिः प्रार्थयिता विडम्ब्यते।

स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेषयन्त्या तया
यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव।
मा गा इत्युपरुद्धया यदपि सा सासूयमुक्ता सखी
सर्वं तत्किल मत्परायणमहो कामी स्वतां पश्यति॥ २॥

विदूषकः—(तथास्थित एव) भो वअस्स, ण मे हत्थपाआ पसरन्ति। वाआमेत्तएण जीआवइस्सं। जअदु जअदुभवं। [भो वयस्य, न मे हस्तपादं प्रसरति। वाङ्मात्रेण ज्ञापयिष्यामि जयतु जयतु भवान्]

(इतनेहीमें पूर्वनिर्दिष्ट परिवारसहित राजा आता है)

राजा—(मनही मनमें)

यद्यपि प्राणप्यारीका मिलना अत्यन्त सहज नहीं है, परन्तु मन तथापि उसके भावोंकी इच्छा करता है। चाहें कामदेवका अभीष्ट सिद्ध नहीं हुआ तथापि हम दोनोंके चित्तमें चाह है ॥ १ ॥

(मुसकाकर) अपने चित्तकी वृत्तिसे चाहे हुए जनकी चित्तवृत्ति ऐसेही अनुमान करी जाती है।

चाहें जाती हुई उसने नेत्रोंसे औरही ओर देखा हो पर मैंने अपनीही ओर प्रेमकी दृष्टि समझी, जो कि नितम्बोंके भारसे मन्द २ चलना था वोह मैंने विलाससे अठखेली जानी, यद्यपि मत जाओ ऐसा कहकर सखीद्वारा रोकी जानेसे असूयापूर्वक बोली परन्तु वोह सबही मैंने अपनी ओर कटाक्ष समझा, आहा ! कामी अपनाही स्वार्थ पहिचानते हैं ॥ २ ॥

विदूषक—(वैसेही खडा है) हे मित्र ! मेरे हाथ पैर नहीं चलते वचनमात्रहीसे निवेदन करता हूं जय हो आपकी जय हो।

राजा—कुतोऽयं गात्रोपघातः।

विदूषकः—कुदो किल सअं अच्छी आउलीकरिअ अस्सुकारण पुच्छेसि। [कुतः किल स्वयमक्ष्याकुलीकृत्याश्रुकारणं पृच्छसि]

राजा—न खल्ववगच्छामि।

विदूषकः—भो वअस्स, जं वेदसो खुज्जलीलं विडम्बेदि तं किं अत्तणो पहावेण, अथवा णईवेअस्स [भो वयस्य, यद्वेतसः कुब्जलीलां विडम्बयति तत्किमात्मनः प्रभावेण अथवा नदीवेगस्य]

राजा—नदीवेगस्तत्र कारणम्।

विदूषकः—मम वि भवं। [ममापि भवान्]

राजा—कथमिव।

विदूषकः—एव्वं राअकज्जाणि उज्झिअ तारिसे आउलप्पदेसे वणचरवुत्तिणा तुए होदव्वं। जं सच्चं पच्चहं सावदसमुच्छारणेहिं संखोहिअसंधिबन्धाणं मम गत्ताणं अणीसो ह्मि संवुत्तो। ता पसादइस्सं विसज्जिदुं मं एक्काहं वि दाव विस्सामिदुं। [एवं राजकार्याण्युज्झित्वा तादृश आकुलप्रदेशे वनचरवृत्तिना त्वया भवितव्यम्। यत्सत्यं प्रत्यहं श्वापदसमुत्सारणैः संक्षोभितसंधिबन्धानां मम गात्राणामनीशोऽस्मि संवृत्तः। तत्प्रसादयिष्यामि विसर्जितुं मामेकाहमपि तावद्विश्रमितुम्]

राजा—यह अंगभंग कैसे हो गया।

विदूषक—स्वयं आंख कुचा (चुभा) कर आंसू निकलनेका कारण पूछते हो।

राजा—सत्य मैं नहीं जानता।

विदूषक—हे मित्र ! वेंत जो कुब्जोंका अनुकरण करता है सो क्या अपने अथवा नदीवेगके प्रभावसे।

राजा—उसमें नदीका वेगही कारण है।

विदूषक—मेरेभी तुम हो।

राजा—क्योंकर।

विदूषक—तुम तौ इस प्रकार राजकाज छोड ऐसे निर्जन वन

राजा—(स्वगतम्) अयं चैवमाह । ममापि कण्वसुतामनुस्मृत्य मृगयाविक्लवं चेतः । कुतः ।

न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो
धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु ।
सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः
कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः ॥ ३ ॥

विदूषकः—(राज्ञो मुखं विलोक्य) अत्तभवं किं वि हिअए करिअ मन्तेदि । अरण्णे मए रुदिअं आसि । [अत्र भवान् किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयते । अरण्ये मया रुदितमासीत्]

राजा—(सस्मितम् ।) किमन्यत् । अनतिक्रमणीयं मे सुहृद्वाक्यमिति स्थितोऽस्मि ।

विदूषकः—चिरं जीअ । (इति गन्तुमिच्छति) [चिरं जीव]

राजा—वयस्य, तिष्ठ । सावशेषं मे वचः ।

अहेरियोंकी वृत्ति करोगे । मैं सत्य कहता हूं प्रतिदिन वनैले जीवोंके पीछे दौड़ते २ मेरे सन्धिबन्धन हिल जानेसे असमर्थ हो गया हूं । इस हेतु आज्ञा मांगता हूं एक दिन विश्रामके लिये छोडनेकी ।

राजा—(आपहीआप) इधर यह तौ यौं कहता है उधर कण्वकुमारीकी चिन्ता करके हमारा चित्तभी अहेरसे हट गया । क्योंकि ।

जिन मृगोंने प्यारीके साथ निवास कर भोलीभाली चितवनका उपदेश दिया था उन्हीं मृगोंके ऊपर वाण चढाकर धनुष चलानेको मैं समर्थ नहीं ॥ ३ ॥

विदूषक—(राजाके मुखको निहारकर) आप तौ जाने क्या मनमें विचार रहे हैं । हमारा कहना वनमें रोदन करनेकी समान हो गया ।

राजा—(मुसकाकर) और क्या ? इसी विचारमें बैठा हूं कि मुझे मित्रका वाक्य मानना चाहिये ।

विदूषक—चिरकाल जिओ । (यौं कह जाना चाहता है) ।

राजा—मित्र ! ठैरौ । कुछ और कहना है ।

विदूषकः---आणवेदु भवं। [आज्ञापयतु भवान्]

राजा—विश्रान्तेन भवता ममाप्यनायासे कर्मणि सहाये भवितव्यम्।

विदूषकः—किं मोदअखण्डिआए। तेण हि अअं सुगहीदे खणो। [किं मोदकखण्डिकायाम्। तेन ह्ययं सुगृहीतः क्षणः

राजा—यत्र वक्ष्यामि। कः कोऽत्र भोः।

(प्रविश्य)

दौवारिकः—(प्रणम्य) आणवेदु भट्टा। [आज्ञापयतु भर्ता

राजा—रैवतक, सेनापतिस्तावदाहूयताम्।

दौवारिकः—तह। (इति निष्क्रम्य सेनापतिना सह पुनः प्रविश्य) एसो अण्णावअणुक्कण्ठो भट्टा इदो दिण्णदिट्ठी एव्व चिट्ठदि। उव सप्पदु अज्जो। [तथा। एष आज्ञावचनोत्कण्ठो भर्ततो दत्तदृष्टि रेव तिष्ठति। उपसर्पत्वार्यः]

सेनापतिः—(राजानमवलोक्य) दृष्टदोषापि स्वामिनि मृगय केवलं गुण एव संवृत्ता। तथा हि देवः

विदूषक--महाराजकी जो आज्ञा।

राजा--विश्रान्त होनेपर तुझे मैंभी विना दौड़ भागके कार्य सहायक बनाऊंगा।

विदूषक--अजी क्या लड्डू खवाओगे। तब तो यह समय भ मिला।

राजा--अभी कहता हूं। अरे ! यहां कोई है।

(आयकर)

द्वारपाल—(प्रणाम कर) महाराजकी क्या आज्ञा है।

राजा—रैवतिक ; प्रथम सेनापति बुलाया जाय।

द्वारपाल—बहुत अच्छा। (बाहर जाय सेनापतिके साथ फि आकर) आज्ञा देनेके लिये उत्कण्ठित यह स्वामी इधरहीको दृ लगाये बैठे हैं। अतः हे आर्य ! आओ।

सेनापति--(राजाको देखकर) अहेरमें दोषही दीखते हैं परन हमारे स्वामीमें तो केवल गुणही होगयी। देखो राजाका

अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं
रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम् ।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं
गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति ॥ ४ ॥

(उपेत्य) जयतु स्वामी । गृहीतश्वापदमरण्यम् । किमन्यत्रावस्थीयते ।

राजा—मन्दोत्साहः कृतोऽस्मि मृगयापवादिना माढव्येन ।

सेनापतिः—(जनान्तिकम्) सखे, स्थिरप्रतिबन्धो भव । अहं तावत्स्वामिनश्चित्तवृत्तिमनुवर्तिष्ये । (प्रकाशम्) प्रलपत्वेष वैधवेयः । ननु प्रभुरेव निदर्शनम् ।

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चितं भयक्रोधयोः ।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ॥ ५ ॥

अगला शरीर बारबार धनुषकी प्रत्यंचा खींचनेसे अधिक कठिन हो गया है, राजाके सूर्यकी किरणें साहार गयीं, स्वेद (पसीने) के कणभी नहीं है, बडा होनेके कारण दुर्बलताभी गात्रमें नहीं जानी जाती और महाराज पर्वतचारी हाथीकी समान बल धारण करते हैं ॥ ४ ॥

(बढकर) महाराजकी जय हो । अहेरी पशुओंका वन मिल गया । अब यहां क्या बैठे हो ।

राजा—माढव्यने आखेटकी निन्दा कर हमारा उत्साह मन्द कर दिया ।

सेनापति—(हौले हौले) मित्र! प्रतिज्ञापर स्थिर रह। मैंभी महाराजके मन सुहाती कहता हूं । (प्रकट) इस रांड़केको बकने दो । ठीक आपही उदाहरण हैं ।

मेदा [चर्वी] को घटाकर उदर [तोंद-थोंद] को कृश करती और शरीर चलने फिरने योग्य होता है, जीवोंके चित्तके भय और

विदूषकः—अत्तभवं पकिदिं आपण्णो । तुमं दाव अडवीदो अडवीं आहिण्डन्तो णरणासिआलोलुवस्स जिण्णरिच्छस्स कस्स-वि मुहे पडिस्ससि। [अत्रभवान्प्रकृतिमापन्नः । त्वं तावदटवीतोऽटवीमाहिण्डमानो नरनासिकालोलुपस्य जीर्णऋक्षस्य कस्यापि मुखे पतिष्यसि]

राजा—भद्र सेनापते, आश्रमसंनिकृष्टे स्थिताः स्मः। अतस्ते वचो नाभिनन्दाम । अद्य तावत् ।

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।
विश्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥ ६ ॥

सनापतिः—यत्प्रभविष्णवे रोचते ।

क्रोधका विकार ज्ञात हो जाता है, उत्तमता यह है कि—जो धनुषधारी लोग चलायमान लक्ष्य [निशाने] में बाणोंका सन्धान करते हैं आखेटको मिथ्याही व्यसन (ऐब) बताते हैं क्योंकि—ऐसा आनन्द और कहां है ॥ ५ ॥

विदूषक—महाराज तौ निवृत्त हुए। पर तू इस वनसे उस वनमें दौडता मनुष्यकी नासिकाके लोभी किसी वृद्ध रीछके मुखमें गिर जायगा।

राजा—आर्य सेनापते! हम आश्रमके नेरे स्थित हैं अतः तुम्हारे वचनकी बडाई नहीं कर सक्ते। आज तौ

भैंसे सींगोंसे ताडन किये पोखरोंके जलमें तैरते रहैं, हिरनोंके झुण्ड घनी छायामें बैठ रोमन्थ [रोंथ, जुगालने] का अभ्यास करैं, शूकर अधसूखे सरोवरोंमें सावधानीसे बैठ मोथेकी जडें खाते रहैं, प्रत्यंचाका बन्धन शिथिल हो जानेके कारण यह हमारा धनुषभी विश्राम लेगा ॥ ६ ॥

सेनापति—जो महाराजको रुचे।

राजा—तेन हि निवर्तय पूर्वगतान्वनग्राहिणः । यथा न मे सैनिकास्तपोवनमुपरुन्धन्ति तथा निषेद्धव्याः । पश्य ।

शमप्रधानेषु तपोधनेषु
　　गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः ।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्ता-
　　स्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति ॥ ७ ॥

सेनापतिः—यदाज्ञापयति स्वामी ।

विदूषकः—धंसदु दे उच्छाहवुत्तन्तो । [ध्वंसतां त उत्साहवृत्तान्तः]

(निष्क्रान्तः सेनापतिः)

राजा—(परिजनं विलोक्य) अपनयन्तु भवत्यो मृगयावेशम् । रैवतक, त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु ।

परिजनः—जं देवो आणवेदि । (इति निष्क्रान्तः) [यद्देव आज्ञापयति]

राजा—तौ फिर अगाडी गये अहेरियोंको लौटा लो । जिस प्रकार कि हमारे सैनिक लोग तपोवनमें विघ्न न करें वैसाही निषेध कर दो । देखो !

शान्तरसप्रधानवाले तपोधन ऋषियोंमें सूर्यकान्तमणिमें दाहकशक्तिकी समान तेज निश्चय गुप्त रहता है, जैसे सूर्यकान्तमणि स्पर्शमें शीतल होती और सूर्यके तेजसे तिरस्कृत हो अग्नि उगलती है ॥ ७ ॥

सेनापति—महाराजकी जो आज्ञा ।

विदूषक—जलो तेरा उत्साह दिलाना ।

(सेनापति जाता है)

राजा—(दासियोंकी ओर निहारकर) तुमभी अहेरी भेषको दूर करो । हे रैवतक ! तूभी अपने काममें सावधान रह ।

सेवक—महाराजकी जो आज्ञा होती है । (यों कहकर जाते हैं)

विदूषकः—कदं भवदा णिम्मच्छिअं। संपदं एदस्सिं पादवच्छाआए विरइदलदाविदाणदंसणीआए आसणे णिसीददु भवं, जाव अहं वि सुहासीणो होमि। [कृतं भवता निर्मक्षिकम्। सांप्रतमेतस्यां पादपच्छायायां विरचितलतावितानदर्शनीयायामासने निषीदतु भवान्, यावदहमपि सुखासीनो भवामि]

राजा—गच्छाग्रतः।

विदूषकः—एदु भवं। [एतु भवान्]

(इत्युभौ परिक्रम्योपाविष्टौ)

राजा—माढव्य, अनवाप्तचक्षुःफलोऽसि। येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम्।

विदूषकः—णं भवं अग्गदो मे वट्टदि। [ननु भवानग्रतो मे वर्तते]

राजा—सर्वः कान्तमात्मानं पश्यति। तामाश्रमललामभूतां शकुन्तलामधिकृत्य ब्रवीमि।

विदूषक—आपने भली मक्खी निकाली। अब इस वृक्षकी छायामें जिसपर लताका सुन्दर वितान है आप आसनपर बैठे। तबलौं मैंभी सुखसे बैठूं।

राजा—बढ अगाडी।

विदूषक—तुमभी आओ।

(यौं कह दोनों जाकर बैठते हैं)

राजा—माढव्य! तुझे नेत्रोंका फल नहीं मिला। क्योंकि तूने देखने योग्य [वस्तु] तौ देखीही नहीं।

विदूषक—मेरे अगाडी तौ आप रहते हैं!

राजा—अपनेको तौ सभी भला देखते हैं। मैं तपोवनकी शोभारूप उस शकुन्तलाके विषयमें कहता हूं।

विदूषकः—(स्वगतम्) होदु । से अवसरं ण दाइस्सं । (प्रकाशम्) भो वअस्स, ते तावसकण्णआ अब्भत्थणीआ दीसादि । [भवतु । अस्यावसरं न दास्ये । भो वयस्य, ते तापसकन्यकाभ्यर्थनीया दृश्यते]

राजा—सखे, न परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणां मनः प्रवर्तते ।

सुरयुवतिसंभवं किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम् ।
अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम् ॥ ८ ॥

विदूषकः—(विहस्य) जह कस्स वि पिण्डखज्जूरेहिं उव्वेजिदस्स तिन्तिलीए अहिलासो भवे, तह इत्थिआरअणपरिभाविणो भवदो इअं अब्भत्थणा । [यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत्, तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना]

राजा—न तावदेनां पश्यसि येनैवमवादीः ।

विदूषकः—तं क्खु रमणिज्जं जं भवदो वि विह्मअं उप्पादेदि । [तत्खलु रमणीयं यद्भवतोऽपि विस्मयमुत्पादयति]

विदूषक—(आपही आप) जो हो । इसे अवसर [मौका] न दूंगा । (प्रगट) हे मित्र ! तुझे तपस्वीकन्या मिली जाती दीखे है ।

राजा—मित्र ! पुरुवंशियोंका मन अलीन वस्तुपर कभीं नहीं डुलता । वोह अप्सराकी सन्तान है पडी हुई प्राप्त होनेसे मुनिकी कन्या कहाती है, वोह इस प्रकार पडी थी मानो आकके ऊपर चमेलीकी कली टूटी पडी हो ॥ ८ ॥

विदूषक—(हँसकर) जैसे पिण्डखजूर [छुहारे] से उकताकर किसीकी इमलीके लिये इच्छा हो, ऐसेही स्त्रीरत्नोंको छोडनेवाले आपकी यह अभिलाषा है ।

राजा—जबतक उसे नहीं देखता है तभीतक ऐसा कहता है ।

विदूषक—वोह निश्चय सुन्दर होगी जिसने तुम्हेंभी विस्मय उत्पन्न कर दिया ।

राजा—वयस्य, किं बहुना।

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥ ९ ॥

विदूषकः—जइ एव्वं पच्चादेसो दाणिं रूववदीणं। [यद्येवं प्रत्यादेश इदानीं रूपवतीनाम्]

राजा—इदं च मे मनसि वर्तते।

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥ १० ॥

राजा—वयस्य ! बहुत क्या कहूं।

विधाताने सर्वव्यापकताको विचार चित्रमें लिखकर और सब रूपवतियोंको मनमें लायकर उस सुन्दर स्त्रीमें प्राण डाले होंगे ॥ ९ ॥

विदूषक—यदि ऐसा है तौ सब रूपवतियोंका तिरस्कार होगया।

राजा—मेरे मनमें तौ ऐसाही है।

उसका अनुपम रूप ऐसा है मानो विना सूंघा पुष्प, मानो नखोंसे विना टूटी कोंपल, मानो अनाविंधा रत्न, मानो विना चखा नवीन मधु, मानो पुण्योंका अखण्ड फल, परन्तु मैं नहीं जानता कि विधाता उसे किस भोगनेवालेको दिलावेगा ॥ १० ॥

---

१ वोह तौ निरदोषिल रूप तिया विन सूंघ्यो मनहुँ कोउ फूल नयो।
नव पल्लव के नखहूं न लग्यो कोउ रत्न किधौं जो विन्धो न गयो ॥
फल पुण्यनको है अखण्ड किधौं मधु है सदके विन स्वाद लयो।
विधिना मत मोहि न जान पर केहि चाहत काहिको भागि दयो ॥ १० ॥

विदूषकः—तेण हि लहु परित्ताअदु णं भवं। मा कस्स वितवस्सिणो इङ्गुदीतेल्लमिस्सचिक्कणसीसस्स हत्थे पडिस्सादि। [तेन हि लघु परित्रायतामेनां भवान्। मा कस्यापि तपस्विन इङ्गुदीतैलमिश्रचिक्कणशीर्षस्य हस्ते पतिष्यति]

राजा—परवती खलु तत्रभवती। न च संनिहितोऽत्र गुरुजनः।

विदूषकः—अत्तभवन्तं अन्तरेण कीदिसो से दिट्ठिराओ। [अत्रभवन्तमन्तरेण कीदृशस्तस्या दृष्टिरागः]

राजा—निसर्गादेवाप्रगल्भस्तपस्विकन्याजनः। तथापि

अभिमुखे मयि संहृतमीक्षणं
हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम्।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया
न विवृतो मदनो न च संवृतः॥ ११॥

विदूषकः—(विहस्य) णं क्खु दिट्ठमेत्तस्स तुह अङ्कं समारोहादि। [न खलु दृष्टमात्रस्य तवाङ्कं समारोहति]

राजा—सखीभ्यां मिथः प्रस्थाने पुनः शालीनतयापि काममाविष्कृतो भावस्तत्रभवत्या। तथा हि।

विदूषक—तौ तुम उसे शीघ्र व्याह लो। हिंगौटके तेलसे चिकने शिरवाले किसी तपस्वीके हाथमें न लग जाय।

राजा—वोह पराधीन है। और उसके पिता घर नहीं हैं।

विदूषक—तुम्हारी ओर उसकी प्रेमदृष्टि कैसी है?

राजा—तपस्वियोंकी कन्याएँ स्वभावहीसे अप्रगल्भ होती हैं। तौभी

मेरे सन्मुख होतेहीं दृष्टि हटा ली, पर किसी मिससे हास्य करा, इस प्रकार लाजसे चेष्टा छिपाईभी, परन्तु यह नहीं कि, कामदेव प्रगट न हुआ हो॥ ११॥

विदूषक—(हँसकर) देखतेही तुम्हारे अंकमें न आ बैठी।

राजा—फिर सखियोंके साथ जाते समय उसने लज्जासे अधिक मनका भाव सूचित करा। जैसे कि।

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥ १२ ॥

विदूषकः—तेण हि गहीदपाहेओ होहि । किदं तुए उववणं तवोवणं त्ति पेक्खामि । [तेन हि गृहीतपाथेयो भव । कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि]

राजा—सखे, तपस्विभिः कैश्चित्परिज्ञातोऽस्मि । चिन्तय तावत्केनापदेशेन सकृदप्याश्रमे वसामः ।

विदूषकः—को अवरो अवदेसो तुम्ह राआणं । णीवारच्छट्ठभाअं अह्माणं उवहरन्तु त्ति । [कोऽपरोऽपदेशस्तव राज्ञः । नीवारषष्ठभागमस्माकमुपहरन्त्विति]

राजा—मूर्ख, अन्यद्भागधेयमेतेषां रक्षणे निपतति, यद्रत्नराशीनपि विहायाभिनन्द्यम् । पश्य ।

कुछ थोडीही दूर चलकर यद्यपि दर्भ नहीं था तथापि दाभ चरणमें चुभ गयी ऐसा कहकर वोह तन्वंगी ठहर गयी, यद्यपि वस्त्र नहीं उलझा था तथापि वृक्षोंकी शाखाओंमेंसे वल्कल वस्त्रको सुलझाती हुई हमारी ओर मुख करके ठिठक गयी ॥ १२ ॥

विदूषक—तौ फिर खाना दाना लेलो । मुझे तौ ऐसा दीखे है कि, तुमने तपोवनको उपवन बना दिया ।

राजा—मित्र ! किसी २ तपस्वीने मुझे पहिचान लिया । अब विचार तो किस मिससे आश्रममें एक वारभी जाऊं ।

विदूषक—तुम्हें राजाओंको और क्या मिस है । कहो कि, मुनि अन्नमेंसे हमारा छठा भाग लाओ ।

राजा—मूर्ख ! तपस्वी तौ हमको और कर देते हैं, जो कि रत्नोंकी राशिकोभी छोडकर प्रशंसनीय है । देख ।

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम् ।
तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः ॥ १३ ॥

(नेपथ्ये)

हन्त, सिद्धार्थौ स्वः ।

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अये, धीरप्रशान्तस्वरैस्तपस्विभिर्भवितव्यम् ।

(प्रविश्य)

दौवारिकः—जेदु भट्टा । एदे दुवे इसिकुमारआ पडिहारभूमिं उवट्ठिदा । [जयतु भर्ता । एतौ द्वौ ऋषिकुमारौ प्रतीहारभूमिमुपस्थितौ]

राजा—तेन ह्यविलम्बितं प्रवेशय तौ ।

दौवारिकः—एसो पवेसेमि । (इति निष्क्रम्य ऋषिकुमाराभ्यां सह प्रविश्य) इदो इदो भवन्ता । [एष प्रवेशयामि । इत इतो भवन्तौ]

(उभौ राजानं विलोकयतः)

राजाओंको और वर्णोंसे जो [कर] मिलता है, उसका फल नष्ट हो जाता है । यह वनवासी तपका अक्षय छठा भाग [आशीर्वाद] हमको देते हैं ॥ १३ ॥

(नेपथ्यमें)

आहा ! हमारा तौ मनोरथ सिद्ध होगया ।

राजा—(कान लगाकर) एं, यह तौ धीर और शान्तस्वरवाले तपस्वी होंगे ।

(आयकर)

द्वारपाल—महाराजकी जय हो । यह दो ऋषिकुमार द्वारपर खडे हैं ।

राजा—दोनोंको तुरन्त लाओ ।

द्वारपाल—अभी लाता हूं । (बाहर जाय ऋषिकुमारोंके साथ आकर) इधर आओ दोनों इधर आओ ।

दोनों—(राजाकी ओर देखते हैं)

प्रथमः—अहो दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयतास्य वपुषः । अथवो पपन्नमेतदृषिभ्यो नातिभिन्ने राजनि । कुतः ।

अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाप्याश्रमे सर्वभोग्ये
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति ।
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वंद्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः ॥ १४ ।

द्वितीयः—गौतम, अयं स बलभित्सखो दुष्यन्तः ।

प्रथमः—अथ किम् ।

द्वितीयः—तेन हि

नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्री-
मेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति ।
आशंसन्ते सुरयुवतयो बद्धवैरा हि दैत्यै-
रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे ॥ १५ ॥

उभौ—(उपगम्य) विजयस्व राजन् ।

पहिला—ओहो ! इसका दीप्तिमान् शरीरभी विश्वसनीय है । अथ ऋषियोंकी सदृश राजामें यह उचितही है । क्योंकि ।

इसनेभी सर्वभोग्य आश्रमहीमें निवास कर लिया है, रक्षा तपको प्रतिदिन संचय करता है, इस जितेन्द्रियकी पवित्र कीर्त्ति चारणलोग स्वर्गमें राजपूर्वक अर्थात् राजऋषि कहकर गाते हैं ॥ १४

दूसरा—हे गौतम ! येही इन्द्रका मित्र दुष्यन्त है ।

पहिला—हां येही है ।

दूसरा—इसीसे ।

इसमें आश्चर्य नहीं कि, नगरके अर्गलेकी समान लम्बी बाहुवा यह राजा अकेलाही सागरपर्यन्त भूमिको भोगता है, दैत्योंद्वारा बांधनेपर देवांगनाएँ इसके चढे हुए धनुष और इन्द्रके वज्रका विज चाहती हैं ॥ १५ ॥

दोनों—(बढकर) महाराज ! आपकी जय हो ।

राजा—(आसनादुत्थाय) अभिवादये भवन्तौ।

उभौ—स्वस्ति भवते। (इति फलान्युपहरतः)

राजा—(सप्रणामं परिगृह्य) आज्ञापयितुमिच्छामि।

उभौ—विदितो भवानाश्रमसदामिहस्थः। तेन भवन्तं प्रार्थयंते।

राजा—किमाज्ञापयन्ति।

उभौ—तत्रभवतः कण्वस्य महर्षेरसांनिध्याद्रक्षांसि न इष्टिविघ्नमुत्पादयन्ति। तत्कतिपयरात्रं सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियतामाश्रम इति।

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि।

विदूषकः—(अपवार्य) एसा दाणिं अणुऊला ते अब्भत्थणा। [एषेदानीमनुकूला तेऽभ्यर्थना]

राजा—(स्मितं कृत्वा) रैवतक, मद्वचनादुच्यतां सारथिः सबाणकार्मुकं रथमुपस्थापयेति।

दौवारिकः—जं देवो आणवेदि। (इति निष्क्रान्तः) [यद्देव आज्ञापयति]

राजा—(आसनपरसे उठकर) दोनोंको प्रणाम करता हूं।

दोनों—आपका कल्याण हो। (यौं कह फल भेंट करते हैं)

राजा—(प्रणामपूर्वक लेकर) आज्ञा पानेकी इच्छा करता हूं।

दोनों—आश्रमवासियोंने आपको यहां ठहरा जाना। इस कारण आपसे प्रार्थना करते हैं।

राजा—क्या आज्ञा करते हैं।

दोनों—मान्यवर कण्वमहर्षिके न होनेसे राक्षस हमारे तपमें विघ्न करते हैं। अतः कुछ रात सारथीसमेत आप आश्रमको सनाथ करें।

राजा—मेरे ऊपर बडा अनुग्रह करा।

विदूषक—(सैन देकर) अब तौ तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगयी।

राजा—(मुसकाकर) रैवतक। सारथिसे कहो कि मेरे वचनसे धनुषबाण और रथ ले आवै।

द्वारपाल—जो आज्ञा है। (यौं कहकर चला गया)

उभौ—(सहर्षम्)

अनुकारिणि पूर्वेषां युक्तरूपमिदं त्वयि ।
आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः ॥ १६ ॥

राजा—(सप्रणामम्) गच्छतां भवंतौ। अहमप्यनुपदमागत एव।

उभौ—विजयस्व । (इति निष्क्रान्तौ)

राजा—माढव्य, अप्यस्ति शकुन्तलादर्शने कुतूहलम् ।

विदूषकः—पढमं सपरिवाहं आसि । दाणिं रक्खसवुत्तन्ते बिन्दूवि णावसेसिदो । [प्रथमं सपरिवाहमासीत् । इदानीं राक्षस वृत्तान्तेन बिन्दुरपि नावशेषितः]

राजा—मा भैषीः । ननु मत्समीपे वर्तिष्यसे ।

विदूषकः—एस रक्खसादो रक्खिदो ह्मि । [एष राक्षसा क्षितोऽस्मि]

(प्रविश्य)

दौवारिकः—सज्जो रधो भट्टिणो विजअप्पत्थाणं अवेक्खदि एस उण णअरादो अंवाणं आणत्तिहरओ करभओ आअदो [सज्जो रथो भर्तुर्विजयप्रस्थानमपेक्षते । एष पुनर्नगरादम्ब नामाज्ञाप्तिहरः करभक आगतः]

दोनों—(प्रसन्न होकर)

पूर्वपुरुषाओंके समानही यह सुयोग्यरूप तुममें है, प्रसिद्ध कि, पुरुषवंशी राजा भयालुओंको अभय करनेमें सदा कटिबद्ध हैं ॥१६

राजा—(प्रणाम करके) आप चलें। मैंभी पीछे २ आता हूं ।

दोनों—जय रहै । (यौं कहकर जाते हैं) ।

राजा—माढव्य ! क्या शकुन्तलाके देखनेकी उत्कण्ठा है ।

विदूषक—प्रथम तौ बडी उमङ्ग थी । अब राक्षसोंका वृत्तान्त लेशमात्रभी न रही ।

राजा—डरै मत । हमारे साथ रहिये ।

विदूषक—यौं तो राक्षससे रक्षा हो गयी ।

(आकर)

द्वारपाल—रथ तैयार है स्वामीके विजयगमनकी इच्छा करता है और यह नगरसे माताजीका सन्देशा लेकर करभक आया है।

राजा—(सादरम् ।) किमम्बाभिः प्रेषितः ।

दौवारिकः—अह इं । [अथ किम्]

राजा—ननु प्रवेश्यताम् ।

दौवारिकः—तह । (इति निष्क्रम्य करभकेण सह प्रविश्य) एसो भट्टा । उवसप्प । [तथा । एष भर्ता । उपसर्प]

करभकः—जेदु भट्टा । दवो अंबा आणवेदि । आआमिणि चउत्थदिअहे पउत्तपारणो मे उववासो भविस्सादि । तहिं दीहाउणा अवस्सं संभाविदव्व त्ति । [जयतु भर्ता । देव्यम्बाज्ञापयाति आगामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो म उपवासो भविष्यति । तत्र दीर्घायुषावश्यं संभावनीयेति]

राजा—इतस्तपस्विकार्यम् । इतो गुरुजनाज्ञा । द्वयमप्यनतिक्रमणीयम् । किमत्र प्रतिविधेयम् ।

विदूषकः—(विहस्य) तिसंकू विअ अन्तराले चिट्ठ । [त्रिशङ्कुरिवान्तराले तिष्ठ]

राजा—सत्यमाकुलीभूतोऽस्मि ।

राजा—(सत्कार करके) क्या माताजीने पठाया है ।

द्वारपाल—हां हां ।

राजा— तौ बुला लिया जाय ।

द्वारपाल—जो आज्ञा । (बाहर जाके करभकके साथ फिर आता है) महाराज इधर हैं । निकट जाओ ।

करभक—महाराजकी विजय हो । महाराणी माताजीने आज्ञा दी है । आनेवाले चौथे दिन मेरे उपवासकी पारणा प्रवृत्त होगी । उसमें आप चिरंजीवको अवश्य आना होगा ।

राजा—इधर तपस्वियोंका कार्य । उधर बडोंकी आज्ञा । दोनोंही उल्लंघनके अयोग्य हैं । इसमें क्या करना कर्त्तव्य है ।

विदूषक—(हँसकर) त्रिशंकुकी समान अधबीचमें लटकते रहो ।

राजा—सचमुच व्याकुल हूं ।

कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद्द्वैधीभवति मे मनः ।
पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतः स्रोतोवहो यथा ॥ १७ ॥

(विचिन्त्य) सखे, त्वमम्बया पुत्र इति प्रतिगृहीतः । अतो भवानितः प्रतिनिवृत्य तपस्विकार्यव्यग्रमानसं मामावेद्य तत्रभवतीनां पुत्रकृत्यमनुष्ठातुमर्हति ।

विदूषकः—ण क्खु मं रक्खोभीरुअं गणेसि । [न खलु मां रक्षोभीरुकं गणय]

राजा—(सस्मितम्) भो महाब्राह्मण ! कथमेतद्भवति संभाव्यते।

विदूषकः—जह राआणुएण गन्तव्वं तह गच्छामि । [यथा राजानुजेन गन्तव्यं तथा गच्छामि]

राजा—ननु तपोवनोपरोधः परिहरणीय इति सर्वानानुयात्रिकांस्त्वयैव सह प्रस्थापयामि ।

विदूषकः—तेण हि जुवराओ ह्मि दाणिं संवुत्तो [तेन हि युवराजोऽस्मीदानीं संवृत्तः]

जुदे २ देशोंमें कार्य होनेसे मेरा मन द्विविधामें हो रहा है, जैसे प्रथम पर्वतपर टकराया हुआ नदीका सोत ॥ १७ ॥

(सोचकर) सखे ! माताजीने तुझेभी पुत्रही समझ रक्खा है । अतः तू यहांसे लौटकर और मुझे तपस्वियोंके कार्यमें घिरा बताकर माताजीका पुत्रकार्य करनेको योग्य है ।

विदूषक—मुझे कहीं राक्षसोंसे डरा मत समझना ।

राजा—(मुसकाकर) अरे महाब्राह्मण ! कहीं भला तुझमें यह सम्भव हो सक्ता है ।

विदूषक—तौ जैसे राजाके भाईको जाना चाहिये वैसे जाऊंगा ।

राजा—हां भीड तपोवनसे दूर होनी चाहिये इस कारण समस्त अनुचरोंको तेरेही साथ भेजे देता हूं ।

विदूषक—तव तौ मैं अब युवराजही हो गया ।

राजा—(स्वगतम्) चपलोऽयं बटुः । कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्तःपुरेभ्यः कथयेत् । भवतु । एनमेवं वक्ष्ये । (विदूषकं हस्ते गृहीत्वा प्रकाशम्) वयस्य, ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि । न खलु सत्यमेव तापसकन्यकायां ममाभिलाषः । पश्य ।

क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो
मृगशावैः सममेधितो जनः ।
परिहासविजल्पितं सखे
परमार्थेन न गृह्यतां वचः ॥ १८ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति द्वितीयोऽङ्कः ।

राजा—(आपहीआप) यह बटुक बडा चपल है कहीं हमारी लगनको रानियोंसे न कह दे । जो हो । इससे यौं कह दूं । (विदूषकके हाथ पकडकर प्रगट) मित्र ! ऋषियोंके गौरव रखनेको आश्रममें जाता हूं । तू निश्चय मान सचमुच तपस्वीकी कन्यामें मेरी अभिलाषा नहीं है । देख तौ—

कहां हम और हरिनोंके बच्चोंके साथ पली एवं कामकलामें अनभिज्ञ कहां वोह कन्या [शकुन्तला] हे सखे ! यह हँसीसे कहा गया था, यह वचन सत्य कर न मानना ॥ १८ ॥

विदूषक—सत्य है ।

(यौं कहकर सब जाते हैं ।)

दूसरा अंक समाप्त ।

तृतीयोऽङ्कः ।

अथ विष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशति कुशानादाय यजमानशिष्यः)

शिष्यः—अहो महानुभावः पार्थिवो दुष्यन्तः । प्रविष्टमात्र एवाश्रमं तत्रभवति राजनि निरुपद्रवानि नः कर्माणि प्रवृत्तानि भवंति ।

का कथा बाणसंधाने ज्याशब्देनैव दूरतः ।
हुंकारेणेव धनुषः स हि विघ्नानपोहति ॥ १ ॥

यावदिमान्वेदिसंस्तरणार्थं दर्भानृत्विग्भ्य उपनयामि । (परिक्रम्यावलोक्य च आकाशे) प्रियंवदे, कस्येदमुशीरानुलेपनं मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि नीयन्ते । (आकर्ण्य) किं ब्रवीषि । आतपलङ्घनाद्बलवदस्वथा शकुन्तला । तस्याः शरीरनिर्वापणायेति । तर्हि त्वरितं गम्यताम् । सखि, सा खलु भगवतः कण्वस्य कुलपतेरुच्छ्वसितम् । अहमपि तावद्वैतानिकं शान्त्युदकमस्यै गौतमीहस्ते विसर्जयिष्यामि । (इति निष्क्रान्तः) इति विष्कम्भकः ।

विष्कंभक ।

(तदनन्तर कुशा लिये ऋत्विकका शिष्य आता है)

शिष्य—आहा ! महाराज दुष्यन्त बडे प्रतापी हैं । जिन महाराजके आश्रममें आनेहीमात्रसे हमारे कार्य निर्विघ्न होते हैं ।

बाण सन्धान करनेकी बातही क्या है, प्रत्यंचाका शब्दही धनुषके टंकारकी समान दूरहीसे विघ्नोंका विनाश करता है ॥ १ ॥

अब वेदियोंके ऊपर बिछानेके लिये इन कुशाओंको ऋत्विजोंके पास पहुँचा दूं । (फिरकर और देखकर ऊपरको) प्रियंवदे ! उशीर (खश)-का लेप और नालसहित कमलके पत्ते किसके लिये लिये जाती है। (सुनकर) क्या कहा? घाम लगनेसे शकुन्तला अत्यन्त व्याकुल हो गयी है, उसका शरीर शीतल करनेके निमित्त । तो वेगही जा । हे सखि! वोह कन्या कुलपति भगवान् कण्वऋषिकी प्राण है । मैंभी अभी यज्ञमन्त्रोंका शांतिजल उसके लिये गौतमीको सौंपकर भेजूंगा । (यों कहकर जाता है)।

इति विष्कम्भक ।

(ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा)

राजा—(निःश्वस्य)

जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति मे विदितम् ।
अलमस्मि ततो हृदयं तथापि नेदं निवर्तयितुम् ॥ २ ॥

(मदनबाधां निरूप्य) भगवन्कुसुमायुध, त्वया चन्द्रमसा च विश्वसनीयाभ्यामतिसंधीयते कामिजनसार्थः । कुतः ।

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु ।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि ॥ ३ ॥

(विचिन्त्य) भगवन्मनोभव ! कुतस्ते कुसुमायुधस्य शरतैक्ष्ण्यमेतत् ? (स्मृत्वा) आं ज्ञातम् ।

(इतनेहीमें आसक्तोंकी दशावाला राजा आता है)

राजा—(आह भरकर)

मैं तपके प्रभावको जानता हूं, और यहभी मुझे विदित है कि, वोह अबला पराधीन है, तथापि यह मेरा मन निवर्तित होनेको शक्त नहीं ॥ २ ॥

(कामबाधाको निरूपण कर) हे भगवन् कुसुमचाप ! तुम और चन्द्रमा कामिजनोंको विश्वासघात करते हो । क्योंकि ।

तुम्हें कुसुमचापवाला और चन्द्रमाको शीतलकिरणोंवाला यह दोनों वाक्य हम सरिखे कामिजनोंमें अयथार्थ दीखते हैं क्योंकि–चन्द्रमा तो शीतल किरणोंसे अग्नि त्यागन करता, और तू फूलोंके बाणोंको वज्रकी समान त्यागता है ॥ ३ ॥

(विचारकर) भगवन्मन्मथ ! तेरे पुष्पोंके बाणोंमें इतनी तीक्ष्णता कैसे है । (स्मरण करके) हां जाना ।

---

१ हिमांशू"-चन्दासों कुसुमशर तोसों कहत क्यों नहीं सांचे दोऊ इन गुनन मासे जननको ॥ खरी छोडै ज्वाला वोह किरन पाला सँग धरी । तुहू वज्राकारी निज सुमनके बानन करै ॥ ३ ॥

अद्यापि नूनं हरकोपवह्निस्त्वयि ज्वलत्यौर्व इवाम्बुराशौ ।
त्वमन्यथा मन्मथ ! मद्विधानां भस्मावशेषः कथमेवमुष्णः ॥४॥

अथवा ।

अनिशमपि मकरकेतुर्मनसो रुजमावहन्नपि मतो मे ।
मयि मदिरायतनयनां तामधिकृत्य प्रहरतीति ॥ ५ ॥

भगवन् कामैवमुपालभ्यते न मां प्रत्यनुक्रोशः ।

वृथैव सङ्कल्पशतैरजस्रमनङ्ग नीतोऽसि मयातिवृद्धिम् ।
आकृष्य चापं श्रवणोपकण्ठे मय्येव युक्तस्तव बाणमोक्षः ॥६॥

(सखेदं परिक्रम्य)

क नु खलु संस्थिते कर्मणि सदस्यैरनुज्ञातः श्रमक्लान्तमात्मानं विनोदयामि । (निःश्वस्य) किं नु खलु मे प्रियादर्शनादृते शरणमन्यत् । यावदेनामन्विष्यामि । (सूर्यमवलोक्य) इमामुग्रातपवेलां प्रायेण लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु ससखीजना शकुन्तला गमयति । तत्रैव तावद्गच्छामि ।

हे मन्मथ ! महादेवकी क्रोधाग्नि समुद्रमें वडवानलकी समान तुझमें अभीतक दहकती है, अन्यथा हमारी समान जनोंको कैसे भस्म करता क्योंकि—तू तो स्वयं भस्म हो गया था ॥ ४ ॥

अथवा ।

हे मकरध्वज ! यद्यपि तू निरन्तर हमारे मनको दुखाता है, तथापि मेरा अभिमत करता है, क्योंकि—उस मदलोचनीके कारणही प्रहार करता है ॥ ५ ॥

हे भगवन् कामदेव ! इतनी स्तुति करा जानेसेभी दयालु नहीं होता ।

हे अनङ्ग ! मैंने रात दिन सैकडों नियमादि संकल्पोंसे तुझे वृथाही पुष्ट करा, क्या कानपर्यन्त धनुष चढाकर मेरेही ऊपर तुम्हारा बाण परित्याग करना योग्य है ॥ ६ ॥

(खेदसे फिरकर) हाय ! कार्य सम्पूर्ण होनेपर ऋषियोंकी आज्ञा पाकर अपने दुःखी जीवको कहां बैलाऊंगा । (ऊंचा श्वास लेकर)

(परिक्रम्यावलोक्य च) अनया बालपादपवीथ्या सुतनुरचिरं गतेति तर्कयामि । कुतः

सम्मीलन्ति न तावद्बन्धनकोशास्तयावचितपुष्पाः ।
क्षीरस्निग्धाश्चामी दृश्यन्ते किसलयच्छेदाः ॥ ७ ॥

(स्पर्शं रूपयित्वा)। अहो ! प्रवातसुभगोऽयं वनोद्देशः ।

शक्यमरविन्दसुरभिः कणवाही मालिनीतरंगाणाम् ।
अङ्गैरनङ्गतप्तैरविरलमालिङ्गितुं पवनः ॥ ८ ॥

(परिक्रम्यावलोक्य च) अस्मिन्वेतसपरिक्षिप्ते लतामण्डपे संनिहितया तया शकुन्तलया भवितव्यम् । कुतः, (अधो विलोक्य)

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात् ।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपंक्तिर्दृश्यतेऽभिनवा ॥ ९ ॥

प्यारीके दर्शन विना और मेरी कहां शरण है। अब उसीको ढूंढू । (सूर्यको देखकर) इस कठिन दुपहरीको शकुन्तला प्रायः मालिनी-नदीके तीरकी लताकुंजोंमें सखियोंसहित बिताती होगी । अब उधरही चलूं । (फिरकर और देखकर) मैं ऐसा समझता हूं कि वोह सुहावनी इन नई २ लताओंके कूचेमें होकर अभी गयी है । क्योंकि-

जिन डालियोंमेंसे उसने फूल तोडे हैं उनके कौद अभीतक नहीं भरे, और टूटे पत्तोंके कौदभी अभी दूधसे भर रहे हैं ॥ ७ ॥

(पवनका स्पर्श प्रकट करके) आहा ! इस स्थानकी पवन सुहावनी है ।

कमलोंसे सुगन्धित और मालिनीकी तरंगोंके कणोंको धारण करने-वाले पवनके स्पर्श करनेको कामदेवसे संतप्त अंग समर्थ नहीं है ॥ ८ ॥

(फिरकर और देखकर) वेतोंसे घिरे हुए इसी लतामण्डपमें वोह शकुन्तला स्थित होगी । (नीचेको देखकर) क्योंकि,

इस कुंजके द्वारपर पीली रेतीमें अगाडीको उठी हुई और नितम्बोंके भारसे पीछे [एडीकी ओर] गहरी पगपंक्ति दीखती है ॥ ९ ॥

यावद्विटपान्तरेणावलोकयामि। (परिक्रम्य तथा कृत्वा। सहर्षम्। अये, लब्धं नेत्रनिर्वाणम्। एषा मे मनोरथप्रियतमा सकुसुमा स्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते। भवतु। श्रोष्याम्यासां विस्रम्भकथितानि। (इति विलोकयन्स्थितः)

(ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला)

सख्यौ—(उपवीज्य। सस्नेहम्) हला सउन्दले, अवि सुहेदि दे णलिणीपत्तवादो। [हला शकुन्तले, अपि सुखयति ते नलिनीपत्रवातः]

शकुन्तला—(सखेदम्) किं वीअअन्ति मं सहीओ। [किं वीजयतो मां सख्यौ]

(सख्यौ विषादं नाटयित्वा परस्परमवलोकयतः)

राजा—(आत्मगतम्) बलवदस्वस्थशरीरा शकुन्तला दृश्यते। (सवितर्कम्।) तत्किमयमातपदोषः स्यात्, उत यथा मे मनसि वर्तते। (साभिलाषं निर्वर्ण्य) अथवा कृतं संदेहेन।

भला वृक्षोंकी ओटसे देखूं। (फिरकर और देखकर हर्षसे) आहा! नेत्रोंको ठण्डक मिल गयी। यह हमारी मनभावती पुष्पोंके आस्तरण [बिछौने] वाली चट्टानमेंके ऊपर पौढी सखियोंसे सेवित है। हो। इनके मतेकी बातें सुनूंगा। (यों कह खडा होकर देखता है)

(इतनेहीमें उक्त व्यापारवाली शकुन्तला सखियोंसमेत आती है।

सखियें—(पंखा झलरकर स्नेहपूर्वक) अरी शकुन्तला! कमल दलकी वायु तुझे सुख देती क्या?

शकुन्तला—(खेदसे) अरी सखियो! क्यों मेरे ऊपर पंखा डुलाती हो?

(सखियें खेदसहित एक दूसरीकी ओर देखती हैं)

राजा—(आपही आप) शकुन्तला तो बेचैनसी दीखती है। (सोचकर) सो क्या यह गर्मीका विकार है, अथवा जो हमारे मनमें है। (अभिलाषासे प्रशंसा करके) अथवा सन्देहसे कुछ नहीं।

स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलितमृणालैकवलयं
प्रियायाः साबाधं किमपि कमनीयं वपुरिदम् ।
समस्तापः कामं मनसिजनिदाघप्रसरयो-
र्न तु ग्रीष्मस्यैवं सुभगमपराद्धं युवतिषु ॥ १० ॥

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) अणसूए, तस्स राएसिणो पढमदंसणादो आरहिअ पज्जुस्सुआ विअ सउन्दला । किं णु क्खु से तण्णिमित्तो अअं आतङ्को भवे । [अनसूये, तस्य राजर्षेः प्रथमदर्शनादारभ्य पर्युत्सुकेव शकुन्तला । किं नु खलु तस्यास्तन्निमित्तोऽयमातङ्को भवेत्]

अनसूया—सहि, ममवि ईदिसी आसङ्का हिअअस्स । होदु । पुच्छिस्सं दाव णं । (प्रकाशम्) सहि । पुच्छिदव्वासि किंपि । बलवं क्खु दे संदावो । [सखि, ममापीदृश्याशङ्का हृदयस्य भवतु । प्रक्ष्यामि तावदेनाम् । सखि । प्रष्टव्यासि किमपि, बलवान्खलु ते संतापः ।

शकुन्तला—(पूर्वाधन शयनादुत्थाय) हला, किं वत्तुकामासि । [हला, किं वक्तुकामासि]

स्तनोंके ऊपर उशीर [खश] रक्खी है, एक हाथमें कमलनालका ढीला कंगन है, प्यारीका शरीर बाधासहितभी है तथापि मनोहर है, ग्रीष्म और कामदेवका सन्ताप समान होता है, परन्तु—गीष्मके सन्तापसे स्त्रियोंमें इतनी सुन्दरता नहीं होती ॥ १० ॥

प्रियंवदा—(हौले हौले) अरी अनसूया ! उस राजर्षिके दर्शनमात्रहीसे शकुन्तला आसक्तसी हो गयी है। कहीं इसे सत्य वोही रोग न हो?

अनसूया—सखि! मेरे मनमेंभी यही शंका है। जो हो। भला इससे पूछूं तौ। (प्रगट) सखि ! तुझसे कुछ पूछना है क्योंकि तेरा सन्ताप अधिक बढ गया।

शकुन्तला—(अधलेटी होकर) अरी ! क्या कहनेकी इच्छा है?

अनसूया—हला सउन्दले, अणब्भन्तरा क्खु अह्मे मदणगद्स वुत्तन्तस्स। किंदु जादिसी इदिहासणिबन्धेसु कामअमाणा अवत्था सुणीअदि तादिसिं दे पेक्खामि। कहेहि। किंणिमित्तं संदावो विआरं क्खु परमत्थदो अजाणिअ अणारम्भो पडिआ रस्स। [हला शकुन्तले अनभ्यन्तरे खल्वावां मदनगतस्य वृत्ता न्तस्य किंतु यादृशीतिहासनिबन्धेषु कामयमानानामवस्था श्रूयं तादृशीं तव पश्यामि। कथय। किंनिमित्तं ते संतापः। विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वानारम्भः प्रतीकारस्य]

राजा—(आत्मगतम्) अनसूयामप्यनुगतो मदीयस्तर्कः नहि स्वाभिप्रायेण मे दर्शनम्।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) बलवं क्खु मे अहिणिवेसो दा वि सहसा एदाणं ण सक्कणोमि णिवेदिदुं। [बलवान्खलु मेऽभिनि वेशः इदानीमपि सहसैतयोर्न शक्नोमि निवेदयितुम्]

प्रियंवदा—सहि सउन्दले, सुठु एसा भणादि। किं अत्ता आतङ्कं उवेक्खासि अणुदिअहं क्खु परिहीआसि अङ्गेहिं केव लावण्णमई छाआ तुमं ण मुञ्चदि। [सखि शकुन्तले, सुष्ठ्वेषा भणति किमात्मन आतङ्कमुपेक्षसे अनुदिवसं खलु परिहीयसेऽङ्गैः केव लावण्यमयी छाया त्वां न मुञ्चति]

अनसूया—अरी शकुन्तला! हम दोनों मदनव्यौहारोंसे निश्चय अनभिज्ञ हैं। किन्तु कामी (लगन लगे) मनुष्योंकी दशा इतिहास प्रबन्धों (कहानियों) में सुनी है वैसीही तेरी द देखती हूँ। कह तौ सही। किस कारण सन्ताप है। क्योंकि वस्तु रोगको विना जाने उपाय कैसे प्रारम्भ करा जाय।

राजा—(आपही आप) अनसूयाकोभी मेरीहीसी शंका हो गयी अपनेही अभिप्रायसे मेरा दर्शन नहीं है।

शकुन्तला—(आपही आप) मेरी लगन तौ अतिकठिन है। अ इनसे सहजहीमें सुनानेकी कैसे शक्ति हो।

प्रियंवदा—सखि शकुन्तला! यह भला कहती है। क्यों अपने रोग

राजा—अवितथमाह प्रियंवदा । तथा हि ।

क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं
　　मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा ।
शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते
　　पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी ॥११॥

शकुन्तला—सहि, कस्स वा अण्णस्स कहइस्सं । आआसइत्तिआ दाणिं वो भविस्सं । [सखि, कस्य वान्यस्य कथयिष्यामि । आयासयित्रीदानीं वां भविष्यामि]

उभे—अदो एव्व क्खु णिब्बन्धो । सिणिद्धजणसंविभत्तं हि दुक्खं सज्झवेदणं होदि । [अत एव खलु निर्बन्धः । स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति]

को छिपाती है । दिनों दिन तेरे अंग झुरते हैं अब केवल सुन्दरताकी छायाने तुझे नहीं त्यागा है ।

राजा—प्रियंवदा सत्य कहती है । क्योंकि ।

इसके कपोल मुख और हृदय अधिक कृश हो गये हैं, उरोजोंने कठिनाई त्याग दी, कटि अत्यन्तही क्षीण हो गयी, और कन्धे झुक गये हैं, एवं मुखकी आभा पीली पड गयी है, यह कामकी सताई दयाके योग्य है तोभी सुन्दर लगती है जैसे लूसे मुरझाये पत्तोंवाली चमेलीकी लता पवनसे स्पर्श करी गयी हो ॥ ११ ॥

शकुन्तला—सखि! और किसीसे कहूंगी । अब तुम्हारीही दुखदायी होऊंगी ।

दोनों—इसीसे तो हठ है । प्रियजनोंमें विभक्त किया दुःख सहने योग्य हो जाता है ।

राजा—

पृष्टा जनेन समदुःखसुखेन बाला
नेयं न वक्ष्यति मनोगतमाधिहेतुम्।
दृष्टो विवृत्य बहुशोऽप्यनया सतृष्ण-
मत्रान्तरे श्रवणकातरतां गतोऽस्मि ॥ १२ ॥

शकुन्तला—सहि, जदो पहुदि मम दंसणपहं आअदो सो तवोवणरक्खिदा राएसी, तदो आरहिअ तग्गदेण अहिलासेण एतदवत्थाह्मि संवुत्ता। [सखि, यतः प्रभृति मम दर्शनपथमागतः स तपोवनरक्षिता राजर्षिः, तत आरभ्य तद्गतेनाभिलाषेणैतदवस्थास्मि संवृत्ता]

राजा—(सहर्षम्) श्रुतं श्रोतव्यम्।

स्मर एव तापहेतुर्निर्वापयिता स एव मे जातः।
दिवस इवार्धश्यामस्तपात्यये जीवलोकस्य ॥ १३ ॥

शकुन्तला—तं जइ वो अणुमदं ता तह वट्टह जह तस्य राएसिणो अणुकम्पणिज्जा होमि। अण्णहा अवस्वं सिञ्चध मे तिलोदअं। [तद्यदि वामनुमतं तदा तथा वर्तेथां यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि। अन्यथावश्यं सिञ्चतं मे तिलोदकम्]

राजा—

दुःख सुख बटानेवाली सखियोंसे पूछी गयी यह अबला यह नहीं कि मनकी विथाका कारण न बतलावे यद्यपि इसने लौट २ कर वार वार प्यारसे मुझे देखा था तथापि सुननेके अर्थ कातरताको प्राप्त हो रहा हूं (अर्थात् कहीं विथाका कारण और कुछ न बता दे) ॥ १२ ॥

शकुन्तला—सखि! जबसे कि मेरे नेत्रोंके सन्मुख तपोवानका रक्षक वोह राजर्षि आया है तभीसे उसकी अभिलाषासे इस दशाको पहुंच गयी।

राजा—(हर्षसे) जो सुनना था सो सुन लिया।

कामदेवही सन्तापका कारण होकर फिर शान्तिकर्त्ता हो गया जैसे पावसका दिवस प्रथम तपाता फिर काली घटाओंसे शीतल कर देता है ॥ १३ ॥

शकुन्तला—तौ यदि तुम्हें सुहावे तौ ऐसा वर्त्ताव करो जिससे उस राजर्षिकी मैं दयापात्र होऊं। अन्यथा मुझे तिलांजलि दो।

राजा—संशयच्छेदि वचनम्।

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) अणसूए, दूरगअबम्महा अक्खमा इअं कालहरणस्स। जस्सिं बद्धभावा एसा सो ललामभूदो पोरवाणं। ता जुत्तं से अहिलासो अहिणन्दिदुं। [अनसूये, दूरगतमन्मथाक्षमेयं कालहरणस्य। यस्मिन्बद्धभावैषा स ललामभूतः पौरवाणाम्। तद्युक्तमस्या अभिलाषोऽभिनन्दितुम्]

अनसूया—तह जह भणासि। [तथा यथा भणसि।]

प्रियंवदा—(प्रकाशम्) सहि, दिठ्ठिआ अणुरूबो दे अहिणिवेसो। साअरं उज्झिअ कहिं वा महाणई ओदरइ। को दाणिं सहआरं अन्तरेण अदिमुत्तलदं पल्लविदं सहेदि। [सखि, दिष्ट्यानुरूपस्तेऽभिनिवेशः। सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति। क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते]

राजा—किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते।

अनसूया—को उण उबाओ भवे जेण अविलम्बिअं णिहुअं अ सहीए मणोरहं संपादेह्मं। [कः पुनरुपायो भवेद्येनाविलम्बितं निभृतं च सख्या मनोरथं संपादयावः]

राजा—यह वचन तो सन्देह दूर करता है।

प्रियंवदा—(हौले हौले) अरी अनसूया! इसकी मनोभवविथा अधिक बढ गयी विलम्ब करना अयोग्य है। जिसके ऊपर यह मोहित है वोह पुरुवंशियोंका आभूषण है। अतः इसकी अभिलाषा बडाईके योग्य है।

अनसूया—जो तू कहती है वोह ऐसेही है।

प्रियंवदा—(प्रगट) सखि! धन्य तेरा अनुराग योग्य है। सागरको छोड महानदी कहां जा सक्ती है। नवीन पत्तोंवाली चमेलीको आमके विना और कौन ले सकता है।

राजा—इसमें क्या आश्चर्य है जो विशाखाकी तरैयां चन्द्रकलाकी बढाई करें।

अनसूया—फिर क्या उपाय है जिससे कि मनोरथ तुरन्त बेखबर सिद्ध करें।

प्रियंवदा—णिहुअंत्ति चिन्तणिज्जं भवे। सिग्घंत्ति सुअरं। [निभृतमिति चिन्तनीयं भवेत्। शीघ्रमिति सुकरम्]

अनसूया—कहं विअ। [कथमिव]

प्रियंवदा—णं सो राएसी इमस्सिं सिणिद्धदिट्ठीए सूइदाहिलासो इमाइं दिअहाइं पजाअरकिसो लक्खीअदि। [ननु स राजर्षि-स्तस्यां स्निग्धदृष्ट्या सूचिताभिलाष एतान्दिवसान्प्रजागरकृशो लक्ष्यते]

राजा—सत्यमित्थंभूत एवास्मि। तथा हि।

इदमशिशिरैरन्तस्तापाद्विवर्णमणीकृतं
निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिरश्रुभिः।
अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धना-
त्कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते ॥ १४ ॥

प्रियंवदा—(विचिन्त्य) हला, मअणलेहो से करीअदु। इमं देवप्पसादस्साबदेसेण सुमणोगोविदं करिअ से हत्थअं पाव-इस्सं। [हला, मदनलेखोऽस्य क्रियताम्। इमं देवप्रसादस्याप-देशेन सुमनोगोपितं कृत्वा तस्य हस्तं प्रापयिष्यामि]

प्रियंवदा--गुप्त रहनाही कठिन है। तुरन्त होना तौ सहज है।

अनसूया--क्यों कर।

प्रियंवदा--वोह राजर्षि इसे प्रेमकी दृष्टिसे निहारकर अबतक जागनेसे दुर्बल होगयाहै।

राजा—सचमुच हीं तौ ऐसा हो गया हूं। क्योंकि।

रात रात तत्ते आसुओंसे भुजबन्दकी मणीके अन्तरकी दमक फींकी पड गयी है, और इस सुवर्णके खँडुएको बार २ सम्हालता हूं तौभी नीचेहीको खिसलता और प्रत्यंचाकी ठेटके ऊपरभी नहीं रुकता ॥ १४ ॥

प्रियंवदा—अरी! इससे एक प्रीतिपत्र लिखाया जाय। और फूलोंमें छिपाकर देवप्रसादके मिससे राजाके हाथोंमें पहुँचवा दूं।

अनसूया—रोअइ मे सुउमारो पओओ । किं वा सउन्दला भणादि। [रोचते मे सुकुमारः प्रयोगः। किंवा शकुन्तला भणति]

शकुन्तला—को णिओओ विकप्पीअदि । [को नियोगो विकल्प्यते]

प्रियंवदा—तेण हि अत्तणो उवण्णासपुव्वं चिन्तेहि दाव ललिअपदबन्धणं। [तेन ह्यात्मन उपन्यासपूर्वं चिन्तय तावल्ल-लितपदबन्धनम्]

शकुन्तला—हला, चिन्तेमि अहं । अवहीरणभीरुअं पुणो वेवइ मे हिअअं। [हला, चिन्तयाम्यहम्। अवधीरणभीरु पुनर्वे-पते मे हृदयम्]

राजा—(सहर्षम्)

अयं स ते तिष्ठति संगमोत्सुको
विशङ्कसे भीरु यतोऽवधीरणाम् ।
लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं
श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् ॥ १९ ॥

अनसूया—यह उपाय तौ उत्तम है । शकुन्तला क्या कुछ कहती है।

शकुन्तला—इसका परिणाम विचार लेना चाहिये।

प्रियंवदा—अब तू अपने ऊपर लगता कोई सुन्दरसा छन्द विचार।

शकुन्तला—अरी ! मैं विचारती तौ हूं। परन्तु लौटा न दे इस भयसे हृदय कांपता है।

राजा—(प्रसन्न होकर)

तेरे संगमका अभिलाषी वोह यह खडा है जिससे कि तू तिरस्कारकी शंका कर रही है, याचनेवालेको चाहे लक्ष्मी मिले या न मिले, परन्तु लक्ष्मीका चाहा कैसे न मिलेगा ॥ १९ ॥

सख्यौ—अत्तगुणावमाणिणि, को दाणिं सरीरणिव्वावइत्तिअं सारदिअं जोसिणिं पडन्तेण वारेदि । [आत्मगुणावमानिनि, क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं जोत्स्नां पटान्तेन वारयति]

शकुन्तला—(सस्मितम्) णिओइआ दाणिं ह्मि। (इत्युपविष्ट चिन्तयाति) [नियोजितेदानीमस्मि]

राजा—स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुषा प्रियामवलोक यामि । यतः ।

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः ।
कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन ॥ १६ ॥

शकुन्तला—हला, चिन्तिदं मए गीदवत्थु। ण क्खु सण्णिहि दाणि उण लेहणसाहणानि। [हला, चिन्तितं मया गीतवस्तु न खलु संनिहितानि पुनर्लेखनसाधनानि]

प्रियंवदा—इमस्सिं सुओदरसुउमारे णलिणीपत्ते णहेहिं णिक्खि त्तवण्णं करेहि । [एतस्मिञ्छुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्नि क्षिप्तवर्णं कुरु]

सखियें—हे स्वकीयगुणनिन्दक ! कौन भला शरीर शीतल कर वाली शरदचांदनीको कपडा रोपकर हटावेगा।

शकुन्तला—(मुसकाकर) लो अब विचारती हूं। (यौं कह बै कर विचारती है)

राजा—इस समय इकटक होकर प्यारीको देख लूं। क्यों कि

छन्द निर्माण करनेवाली इसका मुख चढी हुई एक भृकुटीरूप अ रागको पुलकित हुए कपोलद्वारा मेरी ओर झलका रहा है ॥ १६ ॥

शकुन्तला—अरी ! गीत तौ मैंने सोच लिया । परन्तु लिखने सामग्री निकट नहीं।

प्रियंवदा—सुएके उदरकी समान कोमल इस कमलदलके अ नखोंसे लिख दे।

शकुन्तला—(यथोक्तं रूपयित्वा) हला, सुणुह दाणिं संगदत्थं ण वेत्ति । [हला, शृणुतमिदानीं संगतार्थं न वेति]

उभे—अवहिद ह्म । [अवहिते स्वः]

शकुन्तला—(वाचयति ।)

तुज्झ ण आणे हिअअं मम उण कामो दिवावि रत्तिम्मि ।
णिग्घिण तवइ बलीअं तुइ वुत्तमणोरहाइं अङ्गाइं ॥ १७ ॥
[तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवापि रात्रावपि ।
निर्घृण तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि ॥]

राजा—(सहसोपसृत्य)

तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव ।
ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः ॥१८॥

शकुन्तला--(पत्तेपर गीत लिखकर) अरी ! सुनो तौ अर्थसंगति हुई कि नहीं ।

दोनों--सुनती हैं ।

शकुन्तला--(वांचती है)

तुम्हारे मनकी तौ जानी नहीं जाती है परन्तु-तुम्हारी ओर आसक्त मेरे अंगोंको कामदेव दिनरात निर्दयी होकर तपाता है[1] ॥ १७ ॥

राजा--(झटपट आगे बढकर)

हे कृशोदरि ! तुझे तौ कामदेव केवल तपाताही है, परन्तु मुझे तौ दिन रात भस्मही करे डालता है, जैसे दिन कमलनीको इतना नहीं मुरझाता जितना कि-चन्द्रमाको सुस्त कर देता है[2] ॥ १८ ॥

---

१ तो मनकी जानत नहीं, अहो मीत सुख दैन ।
पै मो मनको करत नित, मैन महा बेचैन ॥
लागेऊ तुमसौं नेह, रैन दिना कल ना परै ।
काम तपावत देह, अभिलाषा तोहि मिलनकी ॥

२ केवल तोहि तपावहि, मदन अहो सुकुमार ।
भस्म करत पै मो हियो, तू चित देख विचार ॥
भानु मन्द कर देत, केवल गन्ध कमोदिनिहि ।
पै शशिमण्डल श्वेत, होत प्रातके दरशैं ॥

सख्यौ—(सहर्षम्) साअदं अविलम्बिणो मणोरहस्स। [स्वागतमविलम्बिनो मनोरथस्य]

(शकुन्तलाभ्युत्थातुमिच्छति)

राजा—अलमलमायासेन।

संदष्टकुसुमशयनान्याशुक्लान्तविसभङ्गसुरभीणि।
गुरुपरितापानि न ते गात्राण्युपचारमर्हन्ति ॥ १९ ॥

अनसूया—इदो सिलातलेक्कदेसं अलंकरेदु वअस्सो। [इतः शिलातलैकदेशमलंकरोतु वयस्यः]

(राजोपविशति। शकुन्तला सलज्जा तिष्ठति)

प्रियंवदा—दुवेणं णु वो अण्णोण्णाणुराओ पच्चक्खो। सहीसि णेहो मं पुणरुत्तवादिणिं करेदि। [द्वयोर्ननु युवयोरन्योन्यानुराग प्रत्यक्षः। सखीस्नेहो मां पुनरुक्तवादिनीं करोति]

राजा—भद्रे, नैतत्परिहार्यम्। विवक्षितं ह्यनुक्तमनुतापं जनयति

प्रियंवदा—आवण्णस्स विसअणिवासिणो जणस्स अत्तिहरेण रण्णा होदव्वं त्ति एसो वो धम्मो। [आपन्नस्य विषयनिवासि जनस्यार्तिहरेण राज्ञा भवितव्यमित्येष युष्माकं धर्मः]

सखियें—(हर्षित होकर) भला तुरन्तही मनोरथ सिद्ध हो गया

(शकुन्तला आदर देनेको उठती है)

राजा—क्यों परिश्रम करती हो ?

फूलोंकी सेजसे लगा और कमलकी कोमल पखडियोंसे सुगन्धि एवं तापका सताया यह तेरा शरीर कष्ट सहने योग्य नहीं है ॥ १९

अनसूया—महाराज ! इसी शिलाके ऊपर एक ओर विराजो।

(राजा बैठता है। और शकुन्तला लजातीसी बैठती है)

प्रियंवदा—आप दोनोंका अनुराग तौ प्रत्यक्ष है। तथापि सखी स्नेह मुझसे कुछ कहलाया चाहता है।

राजा—सुभगे ! उसे मत छिपाओ क्योंकि मू आई बात न क जाय तौ दुःख देती है।

प्रियंवदा—प्रजामें रहनेवाले मनुष्यकी विपत्ति राजाको हरनी चाहि यह आपका धर्म है।

राजा—नास्मात्परम् ।

प्रियंवदा—तेण हि इअं णो पिअसही तुमं उद्दिसिअ इमं अवत्थन्तरं भअवता मअणेण आरोविदा । ता अरुहासि अब्भुववत्तीए जीविदं से अवलम्बिदुं । [तेन हीयमावयोः प्रियसखी त्वामुद्दिश्येदमवस्थान्तरं भगवता मदनेनारोपिता । तदर्हस्यभ्युपपत्त्या जीवितं तस्या अवलम्बितुम्]

राजा—भद्रे, साधारणोऽयं प्रणयः । सर्वथानुगृहीतोऽस्मि ।

शकुन्तला—(प्रियंवदामवलोक्य) हला, किं अन्तेउरविरहपज्जुस्सुअस्स राएसिणो उवरोहेण । [हला, किमन्तःपुरविरहपर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन]

राजा—सुन्दरि !

इदमनन्यपरायणमन्यथा
हृदयसंनिहिते हृदयं मम ।
यदि समर्थयसे मदिरेक्षणे
मदनबाणहतोऽस्मि हतः पुनः ॥ २० ॥

राजा--इससे परे कोई [धर्म] नहीं ।

प्रियंवदा--हमारी प्यारी सखीको कामदेवने तुम्हारी लगनमें इस दशाको पहुँचा दिया सो आपही कृपा कर इसके प्राण रखने योग्य हो ।

राजा--हे सुभगे ! यह प्रार्थना दोनोंही ओर समान है । परन्तु मेरे ऊपर सब भांति अनुग्रह है ।

शकुन्तला--(प्रियंवदाकी ओर देखकर) अन्तःपुरके वियोगसे घबराये राजर्षिको क्यों बिलमाती हो ।

राजा--हे सुन्दरि !

यह जन अनन्यपरायण हैं, हे मदलोचनी ! तूही मेरे हृदयमें वसती है अन्यथा यदि यह सत्य नहीं मानती तौ मानो कामदेवके बाणोंसे मुझ मारे हुएको फिर मारती है ॥ २० ॥

अनसूया—वअस्सबहुल्लहा राआणो सुणीअन्ति । जह णो पिअसही बन्धुअणसोअणिज्जा ण होइ तह णिव्वत्तेहि । [वयस्य, बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते । यथा नौ प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति तथा निर्वर्तय]

राजा—भद्रे, किं बहुना ।

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे ।
समुद्रवसना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ॥ २१ ॥

उभे—णिव्वुद ह्म । [निर्वृते स्वः]

प्रियंवदा—(सदृष्टिक्षेपम्) अणसूए, जह एसो इदोदिण्णदिट्ठी उस्सुओ मिअपोदओ मादरं अण्णेसदि । एहि । संजोएम णं (इत्युभे प्रस्थिते) अनसूये, यथैष इतोदत्तदृष्टिरुत्सुको मृगपोतको मातरमन्विष्यति । एहि । संयोजयाव एनम्]

शकुन्तला—हला, असरण ह्मि । अण्णदरा वो आअच्छदु । [हला, अशरणास्मि । अन्यतरा युवयोरागच्छतु]

अनसूया—राजन् ! राजालोग बहुतोंके प्यारे सुने जाते हैं हमारी प्यारी सखीका ऐसा निर्वाह करना जो इसके बान्धवोंको सोच न हो।

राजा—सुभगे, बहुत क्या कहूं ।

रनवास अधिक होनेपरभी मेरे कुलकी प्रतिष्ठाका कारण दोही होंगी एक तौ समुद्ररूप वस्त्रवाली पृथिवी दूसरी यह तुम्हारी सखी शकुन्तला ॥ २१ ॥

दोनों—हमें अब सन्तोष हुआ ।

प्रियंवदा—(दृष्टिपात करके) अरी अनसूया ! इधरहीको दीठ करे यह उत्सुक मृगका छौना माताको खोजता फिरता है । चलो । इसे मिलादे । (यों कहकर दोनों चलीं)

शकुन्तला—अरी ! मैं अकेली रही जाती हूं । तुम दोनोंमेंसे एक तौ आओ ।

उभे—पुहवीए जो सरणं सो तुह समीबे वट्टइ । (इति निष्क्रान्ते) [पृथिव्या यः शरणं स तव समीपे वर्तते]

शकुन्तला—कहं गदाओ एव्व । [कथं गते एव]

राजा—अलमावेगेन । नन्वयमाराधयिता जनस्तव समीपे वर्तते ।

किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवाता-
न्संचारयामि नलिनीदलतालवृन्तैः ।
अङ्के निधाय करभोरु यथासुखं ते
संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ ॥ २२ ॥

शकुन्तला—ण माणणीएसु अत्ताणं अवराहइस्सं । (इत्युत्थाय गन्तुमिच्छति) [न माननीयेष्वात्मानमपराधयिष्ये]

राजा—सुन्दरि, अनिर्वाणो दिवसः । इयं च ते शरीरावस्था ।

उत्सृज्य कुसुमशयनं नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम् ।
कथमातपे गमिष्यसि परिबाधापेलवैरङ्गैः ॥ २३ ॥

(इति बलादेनां निवर्तयति)

दोनों—देशदुनीका रक्षक तो तेरे धोरे बैठा है । (यों कहकर दोनों चली गईं)

शकुन्तला—क्या दोनोंही चली गईं ?

राजा—घबरावे मत । निश्चय तेरा सेवक यह जन तेरे निकट बैठाहै । हे हाथीके सूंडकी समान जंघावाली ! क्या शीतल और श्रमके हरनेवाले कमलदलोंसे तेरी शीतल २ वायु डुलाऊं अथवा तेरे कमलकी तुल्य लाल चरणोंको अंकमें रखकर हौले २ पलोटूं ॥ २२ ॥

शकुन्तला—मैं मान्योंको अपराध नहीं लूंगी । (यों कहकर जानेकी इच्छा करती है)

राजा—हे सुन्दरि ! अभी दुपहरी शान्त नहीं हुई । और तेरे शरीरकी यह दशा है ।

पुष्पोंकी सेजको छोडकर कमलकपत्तोंकी चोली पहिरे इस दुपहरीमें कोमल अंगोंसे कैसे चलेगी ॥ २३ ॥

(यों कहकर बरजोरी इसे बैठाता है)

शकुन्तला—पोरव, रक्ख विणअं। मअणसंतत्तावि ण हु अत्तणो पहवामि। [पौरव, रक्ष विनयम्। मदनसंतप्तापि न खल्वात्मनः प्रभवामि]

राजा—भीरु, अलं गुरुजनभयेन। दृष्ट्वा ते विदितधर्मा तत्रभवान्न तत्र दोषं ग्रहीष्यति कुलपतिः। अपि च।

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः ॥ २४ ॥

शकुन्तला—मुञ्च दाव मं। भूओ वि सहीजणं अणुमाणइस्सं। [मुञ्च तावन्माम्। भूयोऽपि सखीजनमनुमानयिष्ये]

राजा—भवतु। मोक्ष्यामि।

शकुन्तला—कदा। [कदा]

राजा—

अपरिक्षतकोमलस्य याव-
त्कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन।
अधरस्य पिपासता मया ते
सदयं सुन्दरि गृह्यते रसोऽस्य ॥ २५ ॥

शकुन्तला—हे पुरुवंशी ! नीतिका पालन करो। कामदेवकी सताई हुईभी मैं स्वतन्त्र [स्वाधीन] नहीं हूं।

राजा—हे भीरु ! गुरुजनोंका भय मत कर। धर्मके जाननेवाले कुलपति कण्व यह देखकर तुझे दोष न देंगे। क्योंकि।

राजऋषियोंकी बहुतसी कन्याएँ गान्धर्वविवाहसे विवाही गई सुनी जाती हैं और उनके मातापितानेभी उन्हें भलाही कहा है ॥२४॥

शकुन्तला—अब मुझे छोड दो। मैं अपनी सखियोंसे फिर कुछ पूछ आऊं।

राजा—ठहर। छोडता हूं।

शकुन्तला—कब ?

राजा—

नवीन पुष्पका रस पीनेवाले भ्रमरकी समान हैं तेरे अछूते अधरोंका रस जब तृप्त होकर पान कर लूंगा ॥ २५ ॥

(इति मुखमस्याः समुन्नमयितुमिच्छति । शकुन्तला परिहरति नाट्येन)

(नेपथ्ये)

चक्कवाकवहुए, आमन्तेहि सहअरं । उवट्टिआ रअणी । [चक्रवाकवधूः, आमन्त्रयस्व सहचरम् । उपस्थिता रजनी]

शकुन्तला—(ससंभ्रमम् ।) पोरव ! असंसअं मम सरीरवुत्तन्तोबलम्भस्स अज्जा गोदमी इदो एव्व आअच्छदि । जाव विडवन्तरिदो होहि । [पौरव, असंशयं मम शरीरवृत्तान्तोपलम्भायार्या गौतमीत एवागच्छति । यावद्विटपान्तरितो भव]

राजा—तथा । (इत्यात्मानमावृत्य तिष्ठति)

(ततः प्रविशति पात्रहस्ता गौतमी सख्यौ च)

सख्यौ—इदो इदो अज्जा गोदमी । [इत इत आर्या गौतमी]

गौतमी—(शकुन्तलामुपेत्य ।) जादे, अवि लहुसंदावाइं दे अङ्गाइं । [जाते, अपि लघुसंतापानि तेऽङ्गानि]

शकुन्तला—अत्थि मे विसेसो । [अस्ति मे विशेषः]

(यों कहकर इसका मुख उठायाही चाहता है वोह मुरककर बरजती है)

(नेपथ्यमें)

हे चकवी ! अपने नाहसे न्यारी हो, रात आयी ।

शकुन्तला—(सटपटाकर) हे पुरुवंशी ! निश्चय मेरे शरीरका वृत्तान्त पूछनेके लिये श्रीमती गौतमी इधरही आती है । अब तुम वृक्षकी आडमें हो जाओ ।

राजा—ऐसेही लो । (यों कहकर छुपकर बैठता है)

(इतनेहीमें गौतमी हाथमें कमण्डलु लिये और दोनों सखियें आती हैं)

सखियें—इधर आओ भगवती गौतमी इधर आओ ।

गौतमी—(शकुन्तलाके निकट जाकर) बेटी ! तेरे शरीरका ताप कुछ हलका हुआ ?

शकुन्तला—अधिक है ।

गौतमी—इमिणा दब्भोदएण णिराबाधं एव्व दे सरीरं भविस्सादि। (शिरसि शकुन्तलामभ्युक्ष्य) वच्छे, परिणदो दिअहो। एहि। उडजं एव्व गच्छह्म। (इति प्रास्थिताः) [अनेन दर्भोदकेन निराबाधमेव ते शरीरं भविष्यति। वत्से, परिणतो दिवसः। एहि। उटजमेव गच्छामः]

शकुन्तला—(आत्मगतम्) हिअअ, पढमं एव्व सुहोवणदे मणोरहे कादरभावं ण मुञ्चसि। साणुसअविहडिअस्स कहं दे संपदं संदावो। (पदांतरे स्थित्वा। प्रकाशम्) लदावलअ संदावहारअ, आमन्तेमि तुमं भूओ वि परिभोअस्स। (इति दुःखेन निष्क्रांता शकुंतला सहेतराभिः) [हृदय, प्रथममेव सुखोपनते मनोरथे कातरभावं न मुञ्चसि। सानुशयविघटितस्य कथं ते सांप्रतं संतापः। लतावलय संतापहारक, आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय]

राजा—(पूर्वस्थानमुपेत्य। सानिःश्वासम्) अहो विघ्नवत्यः प्रार्थितार्थसिद्धयः। मया हि

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥२६॥

गौतमी—इस कुशके जलसे तेरा शरीर निरोग हो जायगा। (शिर पर छिडककर) पुत्रि! दिन ढल गया। चल। कुटीको चलें।

(यौं कहकर जाती हैं)

शकुन्तला—(आपही आप) अरे मन! प्रथमही मनोरथ पूर्ण होने पर तूने कायरता न त्यागी। अब जुदे हुए तुझे कैसा सन्ताप होगा। (थोडी दूर चलकर खडी होती है। प्रगट) हे सन्ताप हरनेवाली लता! तुझसे विदा होती हूं और फिर मिलूंगी। (यौं कहकर शकुन्तला औरोंके साथ जाती है)

राजा—(पहिले स्थानमें आयके। ऊंची श्वास लेकर) ओहो! मनोरथके सिद्ध होनेमें बहुतसे विघ्न हो जाते हैं। मैंनेही।

उस कमलनयनीका अँगुलियोंसे होठ छिपाकर बार २ नहीं नहीं

क नु खलु संप्रति गच्छामि । अथवा । इहैव प्रियापरिभुक्तमुक्ते लतावलये मुहूर्तं स्थास्यामि । (सर्वतोऽवलोक्य)

तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं
क्रान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः ।
हस्ताद्भ्रष्टमिदं बिसाभरणमित्यासज्यमानेक्षणो
निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाच्छक्नोमि शून्यादपि ॥ २७ ॥

(आकाशे ।)

राजन्,

सायंतने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते
वेदिं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः ।
छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः
संध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानाम् ॥ २८ ॥

राजा—अयमहमागच्छामि । (इति निष्क्रान्तः)

इति तृतीयोऽङ्कः ।

कहती हुईका कन्धेकी ओरको मुडा हुआ मुख ज्यौं त्यौं कर कुछ उठा तौ लिया, परन्तु चुम्बन न करा ॥ २९ ॥

अब मैं कहां जाऊं । अथवा । प्रियाके भोगसे बचे इस लतामण्डपमें क्षणेक ठहरूं । (चारों ओर देखकर)

यह शिलाके ऊपर उसके शरीरसे मलगींजी हुई पुष्पोंकी सेज है, यह कमलदलके ऊपर नखूनोंसे लिखा प्रीतिपत्र मुरझाया पडा है, यह उसके हाथसे गिरा कमलनालका कँगना है, इन सबको देखकर इस सूनीभी बेतोंकी कुंजोंको मैं छोड नहीं सकता ॥ २७ ॥

(आकाशमें) ।

हे राजन् !

सन्ध्यासमयकी पूजाका प्रारम्भ होतेही संध्याके बादलोंकी समान काली पीली मांसभक्षी राक्षसोंकी छाया ऋषियोंको भय उपजाती हुई जलती वेदियोंके चारों ओर पडने लगीं ॥ २८ ॥

राजा—मैं यह आया । (यौं कहकर जाता है) ।

तृतीय अङ्क समाप्त ।

चतुर्थोऽङ्कः।

विष्कम्भकः।

(ततः प्रविशतः कुसुमावचयं नाटयन्त्यौ सख्यौ)

अनसूया—पिअंवदे, जइ वि गन्धव्वेण विहिणा णिव्वुत्तक्लाणा सउन्दला अणुरूवभत्तुगामिणी संवुत्तेत्ति णिव्वुदं मे हिअअं तह वि एत्तिअं चिन्तणिज्जं। [प्रियंवदे, यद्यपि गान्धर्वेण विधिना निर्वृत्तकल्याणा शकुन्तलानुरूपभर्तृगामिनी संवृत्तेति निर्वृतं मे हृदयम्, तथाप्येतावच्चिन्तनीयम्]

प्रियंवदा—कहं विअ। [कथमिव]

अनसूया—अज्ज सो राएसी इट्ठिं परिसमाविअ इसीहिं विसज्जिओ अत्तणो णअरं पविसिअ अन्तेउरसमागदो इदोगदं वुत्तन्तं सुमरादि वा ण वेत्ति। [अद्य स राजर्षिरिष्टिं परिसमाप्य ऋषिभिर्विसर्जित आत्मनो नगरं प्रविश्यान्तःपुरसमागत इतोगतं वृत्तान्तं स्मरति वा न वेति]

विष्कम्भक।

(इतनेहीमें फूल चुनती दोनों सखियें आती हैं)

अनसूया—अरी प्रियंवदा! यद्यपि शकुन्तला गान्धर्वविवाहसे विवाही गयी और योग्य वरको प्राप्त हुई, इससे मेरा हृदय सन्तुष्ट है, तथापि इतनी चिन्ता है।

प्रियंवदा—वोह क्या?

अनसूया—अब वोह राजर्षि यज्ञ पूर्ण कराय ऋषियोंसे विदा हो अपने नगरमें जाकर रनवासमें पहुँच यहांके वृत्तान्तकी सुध रक्खे वा नहीं।

प्रियंवदा—वीसद्धा होहि। ण तादिसा आकिदिविसेसा गुणविरोहिणो होन्ति। एतिअं उणचिन्तणीअं, तादो दाणिं इमं वुत्तन्तं सुणिअ ण आणे किं पडिवज्जिस्सदि त्ति। [विस्रब्धा भव। न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति। एतावत् पुनश्चिन्तनीयं, तात इदानीमिमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपत्स्यत इति]

अनसूया—जह अहं देक्खामि, तह तस्स अणुमदं भवे। [यथाहं पश्यामि, तथा तस्यानुमतं भवेत्]

प्रियंवदा—कहं विअ [कथमिव]

अनसूया—गुणवदे कण्णआ पडिबादणिज्जे त्ति अअं दाव पढमो संकप्पो। तं जइ देव्वं एव्व संपादेदि णं अप्पआसेण किदत्थो गुरुअणो। [गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत्प्रथमः संकल्पः। तं यदि दैवमेव संपादयति नन्वप्रयासेन कृतार्थो गुरुजनः]

प्रियंवदा—(पुष्पभाजनं विलोक्य) सहि, अवइदाइं बलिकम्मपज्जत्ताइं कुसुमाइं। [सखि, अवचितानि बलिकर्मपर्याप्तानि कुसुमानि]

प्रियंवदा—सावधान रह। वैसे सुन्दर गुणके विरोधी नहीं होते। चिन्ता अब इतनीही है, अब पिताजी इस वृत्तान्तको सुनकर क्या कहेंगे।

अनसूया—मेरे देखनेमें तौ सब उनका मन चाहा हुआ है।

प्रियंवदा—भला कैसे ?

अनसूया—गुणवान्को कन्यादान करना येही प्रथम संकल्प था। उसे यदि विधाताही संम्पूर्ण कर दे तौ गुरुजन सहजही कृतार्थ हुए।

प्रियंवदा—(फूलोंकी पिटारीकी ओर निहारकर) सखि ! पूजा लायक तौ पुष्प बीन लिये।

अनसूया—णं सहीए सउन्दलाए सोहग्गदेवआ अच्चणीआ [ननु सख्याः शकुन्तलायाः सौभाग्यदेवतार्चनीया]

प्रियंवदा—जुज्जदि । [युज्यते]

(इति तदेव कर्मारभेते)

(नेपथ्ये)

अयमहं भोः ।

अनसूया—(कर्णं दत्त्वा ।) सहि, अदिधीणं विअ णिवेदिदं [सखि, अतिथीनामिव निवेदितम्]

प्रियंवदा—णं उडजसंणिहिदा सउन्दला । (आत्मगतम्) अज्ज उण हिअएण असंणिहिदा । [ननूटजसंनिहिता शकुन्तला अद्य पुनर्हृदयेनासंनिहिता]

अनसूया—होदु । अलं एत्तिएहिं कुसुमेहिं । [भवतु अलमेतावद्भिः कुसुमैः]

(इति प्रस्थिते)

अनसूया—और शकुन्तलासे सुहागदेवीकी पूजाभी तौ करानी है
प्रियंवदा—ठीक कहा ।

(यों कहकर दोनों फूल बीनती हैं)

(नेपथ्यमें)

अरी ! यह मैं हूं मैं ।

अनसूया—(कान लगाकर) सखि ! यह तौ अतिथि कैसा बोल है

प्रियंवदा—शकुन्तला पर्णशालामें है । (आपही आप) परन्तु आ उसका चित्त ठिकाने नहीं ।

अनसूया—जो हो । इतनेही पुष्प बहुत हैं ।

(यों कहकर चलदीं)

(नेपथ्ये)

आः अतिथिपरिभाविनि,

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि
सन्कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥ १ ॥

प्रियंवदा—हद्धी। अप्पिअं एव्व संवुत्तं। कस्सिं पि पूआरुहे अवरद्धा सुण्णहिअआ। सउन्दला। (पुरोऽवलोक्य) ण हु जस्सिं कस्सिं पि। एसो दुव्वासो सुलहकोबो महेसी। तह सविअ वेअबलुफुल्लाए दुव्वाराए गईए पडिणिवुत्तो। को अण्णो हुदवहादो दहिदुं पहवदि। [हा धिक्। अप्रियमेव संवृत्तम्। कस्मिन्नपि पूजार्हेऽपराद्धा शून्यहृदया शकुन्तला। न खलु यस्मिन्कस्मिन्नपि। एष दुर्वासाः सुलभकोपो महर्षिः। तथा शप्त्वा वेगबलोत्फुल्लया दुर्वारया गत्या प्रतिनिवृत्तः। कोऽन्यो हुतवहाद्दग्धुं प्रभवति]

अनसूया—गच्छ। पादेसु पणमिअ णिवत्तेहि णं जाव अहं अग्घोदअं उवकप्पेमि। [गच्छ। पादयोः प्रणम्य निवर्तयैनं यावदहमर्घोदकमुपकल्पयामि]

(नेपथ्यमें)

अरी अतिथिका तिरस्कार करनेवाली !

एकाग्रमनसे जिसका ध्यान करती तूने प्राप्त हुए मुझ तपोधनको नहीं पहिचाना, वोहं समझाने बुझानेसेभी तुझे स्मरण इस प्रकार न करेगा, जैसे उन्मत्त जन पहिले करी वार्ताका स्मरण नहीं करता ॥ १ ॥

प्रियंवदा—हाय हाय। बुरा हुआ। किसी पूजनीयका बेसुध शकुन्तलासे अपराध बनगया। (आगे देखकर) ऐसे वैसेका नहीं। यह महाक्रोधी दुर्वासा महर्षि हैं। जो शाप देकर डगमगाते पैरोंसे वेग २ लौटा जाता है। अग्निसे अन्य [इसके आतिरिक्त] और कौन भस्म करनेको समर्थ है।

अनसूया—जा। पैरों पडकर उन्हें लौटा ला, तबतक मैं अर्घजल सँजोती हूं।

प्रियंवदा—तह [तथा]। (इति निष्क्रान्ता)

अनसूया—(पदांतरे स्खलितं निरूप्य) अव्वो। आवेअक्खलिदाए गईए पब्भटं मे अग्गहत्थादो पुष्फभाअणं। (इति पुष्पोच्चयं रूपयति) [अहो। आवेगस्खलितया गत्या प्रभ्रष्टं ममाग्रहस्तात्पुष्पभाजनम्]

(प्रविश्य)

प्रियंवदा—सहि, पकिदिवक्को सो कस्स अणुणअं पडिगेण्हदि। किं वि उण साणुक्कोसो किदो। [सखि, प्रकृतिवक्रः स कस्यानुनयं प्रतिगृह्णाति। किमपि पुनः सानुक्रोशः कृतः]

अनसूया—(सस्मितम्) तस्सिं बहु एदं पि। कहेहि। [तस्मिन्बह्वेतदपि। कथय]

प्रियंवदा—जदा णिवत्तिदुं ण इच्छादि तदा विण्णविदो मए। भअवं, पढमं त्ति पेक्खिअ अविण्णादतवप्पहावस्स दुहिदुजणस्स भअवदा एक्को अवराहो मरिसिदव्वोत्ति। [यदा निवर्तितुं नेच्छति तदा विज्ञापितो मया। भगवन्, प्रथम इति प्रेक्ष्याविज्ञाततपःप्रभावस्य दुहितृजनस्य भगवतैकोऽपराधो मर्षितव्य इति]

अनसूया—तदो तदो। [ततस्ततः]

प्रियंवदा—ऐसेही लो। (यह कहकर जाती है)

अनसूया—(पैरेभर चलकर गिरके) आय हाय ! वेग चलनेसे मेरे हाथसे पुष्पोंकी टोकरी गिर गई। (यौं कहकर पुष्प चुनती है)

(आयकर)।

प्रियंवदा—अरी सखि ! वोह महर्षि स्वभावका वक्र है वोह किसकी प्रार्थना ग्रहण करता है ? मैंने कुछेक सीधा करा है।

अनसूया—(मुसकाकर) उसका इतनाभी बहुत है। सो बता तौ।

प्रियंवदा—जब लौटना न चाहा तब मैंने निवेदन करा। भगवन् ! पहिलाही अपराध समझ तथा तपका प्रभाव न जाननेवाली कन्याका महर्षि (आप) को एक अपराध क्षमा करना चाहिये।

अनसूया—तौ फिर क्या हुआ ?

प्रियंवदा—तदो मे वअणं अण्णहाभविदुं णारिहदि । किंदु अहिण्णाणाभरणदंसणेण साबो णिवत्तिस्सदित्ति मन्तअन्तो सअं अन्तरिहिदो । [ततो मे वचनमन्यथाभवितुं नार्हति । किंत्वभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यत इति मन्त्रयन्स्वयमन्तर्हितः]

अनसूया—सक्कं दाणिं अस्ससिदुं । अत्थि तेण राएसिणा संपत्थिदेण सणामहेअङ्किअं अङ्गुलीअअं सुमरणीअंत्ति सअं पिणद्धं । तस्सिं साहीणोबाआ सउन्दला भविस्सदि । [शक्यमिदानीमाश्वासयितुम् । अस्ति तेन राजर्षिणा संप्रस्थितेन स्वनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं स्मरणीयमिति स्वयं पिनद्धम् । तस्मिन्स्वाधीनोपाया शकुन्तला भविष्यति]

प्रियंवदा—सहि, एहि । देवकज्जं दाव णिव्वत्तेह्म । [सखि, एहि । देवकार्यं तावन्निर्वर्तयावः]

(इति परिक्रामतः)

प्रियंवदा—(विलोक्य) अणसूए, पेक्ख दाव । वामहत्थोबहिदवअणा आलिहिदा विअ पिअसही । भत्तुगदाए चिन्ताए अत्ताणं पि ण एसा विभावेदि । किं उण आअन्तुअं । [अनसूये, पश्य तावत् । वामहस्तोपहितवदनालिखितेव प्रियसखी । भर्तृगतया चिन्तयात्मानमपि नैषा विभावयति । किं पुनरागन्तुकम्]

प्रियंवदा—तौ मेरा वचन अन्यथा होनेको योग्य नहीं। किन्तु सुध करानेवाली मूँदरीके देखनेसे शाप निवृत्त हो जायगा यह कहकर स्वयं अन्तर्ध्यान हो गया।

अनसूया—तौ अभी आशा है। जाते हुए उस राजर्षिने अपने नामके अक्षरोंसे अंकित मूँदरी सुध दिवानेको स्वयं पहिरादी थी। उसीसे शकुन्तलाका सहज उपाय होगा।

प्रियंवदा—सखि, चलो। अब देवकार्य निबटा आवें।

(यौं कहकर फिरती हैं)

प्रियंवदा—(देखकर) अब देख। बाएँ करपर कपोल धरे प्यारी

अनसूया—पिअंवदे, दुवेणं एव्व णं णो मुहे एसो वुत्तन्तो चिट्ठदु । रक्खिदव्वा क्खु पकिदिपेलवा पिअसही । [प्रियंवदे, द्वयोरेव ननु नौ मुख एष वृत्तान्तस्तिष्ठतु । रक्षितव्या खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी]

प्रियंवदा—को णाम उण्होदएण णोमालिअं सिञ्चेदि । [को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति]

(इत्युभे निष्क्रान्ते)

इति विष्कम्भः ।

(ततः प्रविशाति सुप्तोत्थितः शिष्यः)

शिष्यः—वेलोपलक्षणार्थमादिष्टोऽस्मि तत्रभवता प्रवासादुपावृत्तेन काश्यपेन । प्रकाशं निर्गतस्तावदवलोकयामि कियदवशिष्टं रजन्या इति । (परिक्रम्यावलोक्य च ।) हन्त प्रभातम् । तथा हि ।

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना-
मािविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः ।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥ २ ॥

सखी चित्रलिखितसी हो रही है । पतिकी चिन्तासे इसे अपनीभी सुध नहीं । और आयेकी क्या ।

अनसूया—अरी प्रियंवदा ! यह वृत्तान्त अब हम दोनोंहीके मुखमें रहे । स्वभावसे कोमल प्यारी सखीसे छिपाये रक्खो ।

प्रियंवदा—उष्ण जलसे कौन नवमल्लिकाको छिडकेगा ? ।

(यह कहती दोनों चली गयीं)

इति विष्कम्भक ।

(तदनन्तर सोतेसे उठकर शिष्य आता है)

शिष्य—समय देखनेके अर्थ परदेशसे आये भगवान् कण्वकी आज्ञा पाकर वाहर जाता हूं । अब निकलकर देखूं कि-रात्री कितनी शेष रही है । (फिरकर और देखकर) आहा प्रभात होगया । क्योंकि । एक ओर ओषधिपति चन्द्रमा अस्ताचलके शिखरपर प्राप्त हो रहा

अपि च ।

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
　　दृष्टिं न नन्दयाति संस्मरणीयशोभा ।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
　　दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥ ३ ॥

(प्रविश्यापटीक्षेपेण ।)

अनसूया—जइ वि णाम विसअपरम्मुहस्स वि जणस्स एदं ण विदिअं तह वि तेण रण्णा सउन्दलाए अणज्जं आअरिदं । [यद्यपि नाम विषयपराङ्मुखस्यापि जनस्यैतन्न विदितं तथापि तेन राज्ञा शकुन्तलायामनार्यमाचरितम्]

शिष्यः—यावदुपस्थितां होमवेलां गुरवे निवेदयामि । (इति निष्क्रान्तः)

है ओर दूसरी ओर अरुणसारथिको अगाडी करे सूर्यनारायण उदय होते हैं; दोनों तेजस्वियोंके एक साथ उदय और अस्तद्वारा मानो संसार अपने दशान्तरोंमें शिक्षित हो रहा है ॥ २ ॥

औरभी ।

चन्द्रमाके अस्त हो जानेपर वही कुमुदनी मेरे नेत्रोंको आनन्द नहीं देती, क्योंकि उसकी शोभा स्मरणही मात्रमें रह गई है; प्यारेके प्रवास चले जानेसे उत्पन्न हुए दुःख अबलाजनों (स्त्रियों) को अधिकतर दुःसह होते हैं ॥ ३ ॥

(पटको झटकके आकर)

अनसूया--यद्यपि विषयकी वातोंकी अनभिज्ञ इस जनको यह विदित नहीं है, तथापि उस राजर्षिने शकुन्तलाके साथ अनर्थ करा ।

शिष्य--अब होमकी वेला प्राप्त हुई गुरुजीसे निवेदन करूं । (यों कहकर चला गया)

अनसूया—पडिबुद्धा वि किं करिस्सं। ण मे उइदेसु वि णिअकरणिज्जेसु हत्थपाआ पसरन्ति। कामो दाणिं सकामो होदु। जेण असच्चसंधे जणे सुण्णहिअआ सही पदं कारिदा। अहवा दुव्वाससो कोबो एसो विआरेदि। अण्णहा कहं सो राएसी तारिसाणि मन्तिअ एत्तिअस्स कालस्स लेहमेत्तं पि ण विसज्जेदि। ता इदो अहिण्णाणं अङ्गुलीअअं से विसज्जेम। दुक्खसीले तवस्सिजणे को अब्भत्थीअदु। णं सहीगामी दोसो त्ति व्ववसिदा वि ण पारेमि पवासपडिणिउत्तस्स तादकस्सवस्स दुस्सन्तपरिणीदं आवण्णसत्तं सउन्दलं णिवेदिदुं। इत्थंगए अह्मेहिं किं करणिज्जं। [प्रतिबुद्धापि किं करिष्ये। न म उचितेष्वपि निजकार्येषु हस्तपादं प्रसरति। काम इदानीं सकामो भवतु। येनासत्यसंधे जने शून्यहृदया सखी पदं कारिता। अथवा दुर्वाससः कोप एष विकारयति। अन्यथा कथं स राजर्षिस्तादृशानि मन्त्रयित्वैतावत्कालस्य लेखमात्रमपि न विसृजति। तदितोऽभिज्ञानमङ्गुलीयकं तस्य विसृजावः। दुःखशीले तपस्विजने कोऽभ्यर्थ्यताम्। ननु सखीगामी दोष इति व्यवसितापि न पारयामि प्रवासप्रतिनिवृत्तस्य तातकाश्यपस्य दुष्यन्तपरिणीतामापन्नसत्त्वां शकुन्तलां निवेदयितुम्। इत्थंगतेऽस्माभिः किं करणीयम्]

अनसूया—मैं उठकरभी क्या करूंगी। अपने उचित कार्योंमेंभी मेरे हाथ पैर नहीं चलते। कामदेवका मनोरथ इस समय पूर्ण हुआ। जिसने मिथ्यावादीके वशमें कर भोलीभाली सखीको इस दशाको पहुँचा दिया। अथवा यह दुर्वासाके शापका विकार है। अन्यथा उस राजर्षिने ऐसे प्रेमरसभरे वचन कहकर अवतकभी पत्र न भेजा। अतः यहांसे सुध दिलानेके लिये मूँदरी भेजें। परन्तु इन दुखिया तपस्वियोंमें किसकी प्रार्थना करूं। और यदि सखीका दोषभी जानती तौभी परदेशसे लौटे हुए पिता कण्वसे दुष्यन्तकी विवाही और गर्भवती शकुन्तलाको कह सुनाती। ऐसी दुचिताईमें हमें क्या करना चाहिये।

(प्रविश्य)

प्रियंवदा—(सहर्षम्) सहि, तुवर सउन्दलाए पत्थाणकोदुअं णिव्वत्तिदुं [सखि, त्वरस्व शकुन्तलायाः प्रस्थानकौतुकं निर्वर्तयितुम्]

अनसूया—सहि, कहं एदं । [सखि, कथमेतत्]

प्रियंवदा—सुणाहि । दाणिं सुहसइदपुच्छिआ सउन्दलासआसं गदह्मि । तदो जाव एणं लज्जावणदमुहिं परिस्सजिअ तादकस्सवेण एव्वं अहिणन्दिदं । दिट्ठिआ धूमाउलिददिट्ठिणो वि जअमाणस्स पाअए एव्व आहुदी पडिदा । वच्छे, सुसिस्सपरिदिण्णा विज्जा विअ असोआणिज्जा संवुत्ता । अज्ज एव्व इसिरक्खिदं तुमं भत्तुणो सआसं विसज्जेमि त्ति । [शृणु । इदानीं सुखशयनपृच्छिका शकुन्तलासकाशं गतास्मि । ततो यावदेनां लज्जावनतमुखीं परिष्वज्य तातकाश्यपेनैवमभिनन्दितम् । दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता । वत्से, सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीया संवृत्ता । अद्यैव ऋषिरक्षितां त्वां भर्तुः सकाशं विसर्जयामीति]

(आयकर)

प्रियंवदा--(हर्षसे) सखि ! शकुन्तलाकी बिदाका कौतुक करनेको वेग चल ।

अनसूया--सखि ! यह क्या कहती है ?

प्रियंवदा--सुन अभी शकुन्तलासे सुखपूर्वक शयन करनेकी वार्त्ता पूछने गयी थी । तभी लाजसे नीचेको मुख करी हुईको हृदयसे लगाकर पिता कण्वने यह कहा । हर्षकी बात है कि, यजमानकी दृष्टि धूएँसे पूर्णभी होरहीथी तौभी आहुती अग्निहीमें गिरी । पुत्रि ! तू सुयोग्य शिष्यकी प्रदान करी विद्याकी समान अशोचनीय होगयी । आजही ऋषियोंके साथ तुझे पतिके निकट बिदा करूंगा ।

अनसूया—अह केण सूइदो तादकस्सवस्स वुत्तन्तो । [अथ केन सूचितस्तातकाश्यपस्य वृत्तान्तः]

प्रियंवदा—अग्गिसरणं पविट्ठस्स सरीरं विणा छन्दोमईए वाणिआए । (संस्कृतमाश्रित्य) [अग्निशरणं प्रविष्टस्य शरीरं विना छन्दोमय्या वाण्या]

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः ।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्नाग्निगर्भां शमीमिव ॥ ४ ॥

अनसूया—(प्रियंवदामाश्लिष्य ।) सहि, पिअं मे । किंदु अज्ज एव्व सउन्दला णीआदित्ति उक्कण्ठासाहारणं परितोसं अणुहोमि । [सखि, प्रियं मे । किंत्वद्यैव शकुन्तला नीयत इत्युत्कण्ठासाधारणं परितोषमनुभवामि]

प्रियंवदा—सहि, वअं दाव उक्कण्ठं विणोदइस्सामो । सा तवस्सिणी णिव्वुदा होदु । [सखि, आवां तावदुत्कण्ठां विनोदयिष्यावः । सा तपस्विनी निर्वृता भवतु]

अनसूया—पिताकण्वसे यह वृन्तान्त किसने कह सुनाया ।

प्रियंवदा—अग्निके निकट पहुँचे हुए ऋषिसे छन्दरूप आकाशवाणीने । (संस्कृतमें)

हे ब्रह्मन् ! अपनी कन्याको दुष्यन्तद्वारा प्रजाकी रक्षाके अर्थ दिये गये गर्भसे युक्त जानो जैसे शमीके भीतर आग्नि होती है ॥ ४ ॥

अनसूया—(प्रियंवदाको भेंटकर) सखि ! मुझे बडा आनन्द हुआ। परन्तु शकुन्तलाका गमन आजही होगा यह विचारनेसे सुख और दुःख समान हो जाते हैं ।

प्रियंवदा—सखि ! हम दोनों उत्कण्ठाको यौं मिटाये लेती हैं कि वोह तपास्विनी आनन्द रहै ।

अनसूया—तेण हि एदस्सिं चूदसाहावलम्बिदे णारिएरसमुग्गए एतण्णिमित्तं एव्व कालन्तरक्खमा णिक्खित्ता मए केसरमालिआ । ता इमं हत्थसंणिहिदं करेहि । जाव अहंपि से मअलोअणं तित्थ-मित्तिअं दुव्वाकिसलआणित्ति मङ्गलसमालम्भणाणि विरएमि । [तेन ह्येतस्मिंश्चूतशाखावलम्बिते नालिकेरसमुद्गक एतन्निमित्तमेव कालान्तरक्षमा निक्षिप्ता मया केसरमालिका । तदिमां हस्तसंनिहितां कुरु । यावदहमपि तस्यै मृगरोचनां तीर्थमृत्तिकां दूर्वाकिसलया-नीति मङ्गलसमालम्भनानि विरचयामि]

प्रियंवदा—तह करीअदु । [तथा क्रियताम्]

(अनसूया निष्क्रान्ता । प्रियंवदा नाट्येन सुमनसो गृह्णाति ।)

(नेपथ्ये)

गौतमि, आदिश्यन्तां शार्ङ्गरवशारद्वतमिश्राः शकुन्तलानयनाय ।

प्रियंवदा–(कर्णं दत्त्वा) अनसूए, तुवरसु । एदे क्खु हत्थि-णाउरगामिणो इसीओ सद्दाबीअन्ति । [अनसूये, त्वरस्व । एते खलु हस्तिनापुरगामिन ऋषय आकार्यन्ते]

अनसूया—तौ मैंने इस आमकी डालमें लटकते नारियलके ऊपर इसी हेतु चिरकालसे नागकेशरकी माला रख छोडी थी । सो तू इसे उतार ले । जबतक मैंभी मृगरोचन, तीर्थकी मृत्तिका और दूबके नाल मंगलकी सामग्री लाऊं।

प्रियंवदा—ऐसाही कर्त्तव्य है ।

(अनसूया जाती है । प्रियंवदा लचकाती हुई माला उतारती है)

(नेपथ्यमें)

हे गौतमी ! शार्ङ्गरव और शारद्वतमिश्रोंसे शकुन्तलाके पहुँचानेको कह दो ।

प्रियंवदा–(कान लगाकर) अरी अनसूया ! शीघ्रता कर हस्ति-नापुरके जानेवाले ऋषि बुलाये जाते हैं ।

(प्रविश्य समालम्भनहस्ता)

अनसूया—सहि, एहि । गच्छह्म । [सखि एहि । गच्छावः]

(इति परिक्रामतः)

प्रियंवदा—(विलोक्य) एसा सुज्जोदए एव्व सिहामज्जिदा पडिच्छिदणीवारहत्थाहिं सोत्थिवाअणकाहिं तावसीहिं अहिणन्दीअमाणा सउन्दला चिट्ठइ । उवसप्पह्म णं । [एषा सूर्योदय एव शिखामज्जिता प्रतिष्ठितनीवारहस्ताभिः स्वस्तिवाचनिकाभिस्तापसीभिरभिनन्द्यमाना शकुन्तला तिष्ठति उपसर्पाव एताम्]

(इत्युपसर्पतः)

(ततः प्रविशति यथोद्दिष्टव्यापारासनस्था शकुन्तला)

तापसीनामन्यतमा—(शकुन्तलां प्रति) जादे, भत्तुणो बहुमाणसूअअं महादेईसद्दं लहेहि । [जाते, भर्तुर्बहुमानसूचकं महादेवीशब्दं लभस्व]

द्वितीया—वच्छे, वीरप्पसविणी होहि । [वत्से वीरप्रसविनी भव]

(हाथमें सामग्री लिये आयकर)

अनसूया—आओ सखी ! हमभी चलें ।

(यों कहकर घूमती हैं)

प्रियंवदा—(देखकर) यह सूर्य निकलतेही शिरसे मज्जन किये और हाथमें तन्दुल [चावल] लिये आशीश देनेवाली तपस्विनियोंद्वारा आशीर्वाद दीहुई शकुन्तला बैठी है । हमभी उसके निकट चलें ।

(यों कहकर जातीहैं)

(इतनेहीमें उक्त व्यापारसे आसनपर बैठी शकुन्तला आती है)

एक तपासिन—(शकुन्तलाकी ओर देखकर) हे बेटी ! तू पतिसे अतिआदर सूचन करनेवाले महाराणी शब्दको ग्रहण कर ।

दूसरी—पुत्रि ! शूरवीरकी जननी हो ।

तृतीया—वच्छे, भत्तुणो बहुमदा होहि । [वत्से, भर्तुर्बहुमता भव]

(इत्याशिषो दत्त्वा गौतमीवर्जं निष्क्रान्ताः)

सख्यौ—(उपसृत्य) सहि, सुहमज्जनं दे होदु । [सखि, सुखमज्जनं ते भवतु]

शकुन्तला—साअदं मे सहीणं । इदो णिसीदह । [स्वागतं मे सख्योः । इतो निषीदतम्]

उभे—(मङ्गलपात्राण्यादाय । उपविश्य) हला, सज्जा होहि । जाव मङ्गलसमालम्भणं विरएम । [हला, सज्जा भव । यावन्मङ्गलसमालम्भनं विरचयावः]

शकुन्तला—इदं पि बहु मन्तव्वं । दुल्लहं दाणिं मे सहीमण्डणं भविस्सादि त्ति । (इति बाष्पं विसृजति) [इदमपि बहु मन्तव्यम् । दुर्लभमिदानीं मे सखीमण्डनं भविष्यतीति]

उभे—सहि, उइअं ण दे मङ्गलकाले रोइदुं । (इत्यश्रूणि प्रमृज्य नाट्येन प्रसाधयतः) [सखि, उचितं न ते मङ्गलकाले रोदितुम्]

प्रियंवदा—आहरणोइदं रूवं अस्समसुलहेहिं पसाहणेहिं विप्पआरीअदि । [आभरणोचितं रूपमाश्रमसुलभैः प्रसाधनैर्विप्रकार्यते]

तीसरी—बेटी ! तू पतिको प्यारी हो ।

(इस प्रकार आशीश दे गौतमीको छोड सब जाती हैं)

सखियें—(निकट जाकर) तेरा स्नान मंगलविधायक हो ।

शकुन्तला—अरी मेरी सखियो ! भली आई । यहां बैठो ।

दोनों—(मंगलपात्र लिये । बैठकर) अरी ! तैयार हो । प्रथम मांगलिक उवटन करलें ।

शकुन्तला—यह मैं बहुत करके मानूंगी । क्योंकि सखियोंके हाथसे शृंगार मिलना मुझे दुर्लभ हो जायगा । (यों कहकर आंसू गिराती है)

दोनों—सखि ! मंगलके समय तुझे रोदन करना उचित नहीं । (यों कह आसूं पोंछकर वस्त्र पहिराती हैं)

प्रियंवदा—यह तेरा रूप आभूषणोंके योग्य था परन्तु आश्रममें अनायाससे मिले साधनों [पुष्पादिकों] से सजाया जाता है ।

(प्रविश्योपायनहस्तौ)

ऋषिकुमारकौ—इदमलंकरणम्। अलंक्रियतामत्रभवती।

(सर्वा विलोक्य विस्मिताः)

गौतमी—वच्छ णारअ, कुदो एदं। [वत्स नारद, कुत एतत्]

प्रथमः—तातकाश्यपप्रभावात्।

गौतमी—किं माणसी सिद्धी। [किं मानसी सिद्धिः]

द्वितीयः—न खलु। श्रूयताम्। तत्रभवता वयमाज्ञप्ताः शकुन्तलाहेतोर्वनस्पतिभ्यः कुसुमान्याहरतेति। तत इदानीं

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः॥ ५॥

(आयकर हाथमें वस्त्र आभूषण लिये)

दो ऋषिकुमार-- यह आभूषणादिक हैं। भगवतीको अलंकृत करो।

(सब देखकर विस्मित होती हैं)

गौतमी—हे पुत्रनारद! यह कहांसे आये?

पहिला--पिता कण्वके प्रभावसे।

गौतमी--क्या विचारतेही मनोरथ सिद्ध होगये?

दूसरा--यौं नहीं। सुनो। जब गुरुजीने हमें आज्ञा दी कि शकुन्तलाके लिये वनस्पतियोंसे पुष्प ले आओ। तब तुरन्तही किसी वृक्षने चन्द्रमाकी सदृश मंगलीक रेशमी साडी दी, किसीने घिसकर चरणोंमें लगाने योग्य महावरके अर्थ लाख दी, अन्यान्य वृक्षोंने पहुँचे पर्यन्त निकले वनदेवियोंके हाथोंद्वारा अनेक आभूषण दिये; वे हाथ नवीन पत्तोंकी समान भान होते थे॥ ५॥

प्रियंवदा—(शकुन्तलां विलोक्य) हला, इमाए अब्भुववत्तीए सूइआ दे भत्तुणो गेहे अणुहोदव्वा राअलच्छि त्ति । [हला, अनयाभ्युपपत्त्या सूचिता ते भर्तुर्गेहेऽनुभवितव्या राजलक्ष्मीरिति]

(शकुन्तला व्रीडां रूपयाति)

प्रथमः—गौतम, एह्येहि । अभिषेकोत्तीर्णाय काश्यपाय वनस्पतिसेवां निवेदयावः ।

द्वितीयः—तथा ।

(इति निष्क्रान्तौ)

सख्यौ—अए, अणुवजुत्तभूसणो अअं जणो । चित्तकम्मपरिअएण अङ्गेसु दे आहरणविणिओअं करेह्म । [अये, अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनः । चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु त आभरणविनियोगं कुर्वः]

शकुन्तला—जाणे वो णेउणं । [जाने वां नैपुणम्]

(उभे नाट्येनालंकुरुतः)

(ततः प्रविशाति स्नानोत्तीर्णः कण्वः)

प्रियंवदा—(शकुन्तलाको देखकर) अरी ! इस प्राप्तिसे तेरे पतिके घर राज्यलक्ष्मीकी प्राप्ति सूचित होती है ।

(शकुन्तला लजाती है)

पहिला—हे गौतम ! आओ चलो । स्नान करके लौटे गुरु कण्वसे वनस्पतियोंके सत्कारको कहदें ।

दूसरा—बहुत अच्छा ।

(यों कहकर चले गये)

सखियें—अरी ! हम आभूषणोंका पहरावा क्या जाने । परन्तु चित्रविद्याके परिचयसे तेरे अंगोंमें आभूषण पहिराये देती हैं ।

शकुन्तला—मैं तुम्हारी चतुराई जानती हूं ।

(दोनों–लचकती मचकती शृंगार करती हैं)

(इतनेहीमें स्नान करे कण्व आते हैं)

कण्वः—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥ ६ ॥

(इति परिक्रामति।)

सख्यौ—हला सउन्दले, अवसिदमण्डणासि। परिधेहिं संपदं खोमजुअलं। [हला शकुन्तले, अवसितमण्डनासि । परिधत्स्व सांप्रतं क्षौमयुगुलम्]

(शकुन्तलोत्थाय परिधत्ते)

गौतमी—जादे, एसो दे आणन्दपरिवाहिणा चक्खुणा परिस्सजन्तो विअ गुरू उवट्ठिदो। आआरं दाव पडिवज्जस्स। [जाते, एष त आनन्दपरिवाहिणा चक्षुषा परिष्वजमान इव गुरुरुपस्थितः। आचारं तावत्प्रतिपद्यस्व]

शकुन्तला—(सव्रीडम्) ताद, वन्दामि। [तात वन्दे]

कण्व—

आज शकुन्तला जायगी इस उत्कण्ठासे चित्त उदास है, कण्ठ रुक गया, नेत्रोंमें अश्रु पूर्ण होनेके कारण नेत्रोंसे धुंधला दीखता है, जब मुझसे तपस्वियोंकी स्नेहसे यह विकल दशा है तौ गृहस्थी लोग बेटियोंके पहले वियोगसे कैसे न पीडित होते होंगे ॥ ६ ॥

(यौं कहकर टहलते हैं)

सखियें—हे शकुन्तले ! तेरा शृंगार हो गया। अब श्यालूका जोड़ा पहरले।

(शकुंतला उठकर पहरती है)

गौतमी—हे पुत्रि ! नेत्रोंमें आनन्दके आँसू भरे यह गुरुजी आते हैं। इन्हें आदरसे ले।

शकुन्तला—(लज्जासे) पिताजी ! मैं प्रणाम करती हूं।

कण्वः—वत्से,

यथातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ॥ ७ ॥

गौतमी—भअवं, वरो क्खु एसो। ण आसिसा। [भगवन्, वरः खल्वेषः। नाशीः]

कण्वः—वत्से, इतः सद्योहुताग्नीन्प्रदक्षिणीकुरुष्व।

(सर्वे परिक्रामन्ति)

कण्वः—(ऋक्छन्दसाशास्ते।)

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः
समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धै-
र्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु ॥ ८ ॥

वत्से, प्रतिष्ठस्वेदानीम्। (सदृष्टिक्षेपम्।) क्व ते शार्ङ्गरवमिश्राः।

कण्व—हे पुत्रि !

जैसे शर्मिष्ठा ययातिकी स्त्री हुई थी इसी प्रकार तूभी अपने पतिकी बहुमान्य हो, और जैसे उसने पूरुको उत्पन्न करा था इसी प्रकार तूभी चक्रवर्त्ती पुत्रको प्राप्त होगी ॥ ७ ॥

गौतमी—भगवन् ! यह तो ठीक वर है, न कि आशीर्वाद।

कण्व—पुत्रि ! अब तुरन्त आहुती दी हुई अग्नियोंकी परिक्रमा कर ले।

(सब परिक्रमा करते हैं)

कण्व—(ऋचाके छन्दसे आशीर्वाद देते हैं)

वेदीके चारों ओर रक्खी हुई और समिधाओंसे प्रज्वलित एवं जिनके आसपास दर्भ बिछे हैं, तथा हव्यकी सुगन्धिसे पापोंका नाश करनेवाली यह अग्नियें तुझे पवित्र करें ॥ ८ ॥

पुत्रि ! अब बिदा हो। (देखकर) वे शार्ङ्गरवादिक मिश्र कहां है ?

(प्रविश्य)

शिष्यः—भगवन्, इमे स्मः।

कण्वः—भगिन्यास्ते मार्गमादेशय।

शार्ङ्गरवः—इत इतो भवती।

(सर्वे परिक्रामन्ति।)

कण्वः—भो भोः संनिहितास्तपोवनतरवः,

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥ ९॥

(कोकिलरवं सूचयित्वा।)

अनुमतगमना शकुन्तला
तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।
परभृतविरुतं कलं यथा
प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम्॥ १०॥

(आयकर)

शिष्य—भगवन्! हम यह हैं।

कण्व—अपनी बहनको मार्ग बताओ।

शार्ङ्गरव—इधर आओ भगवती इधर।

(सब चलते हैं)

कण्व—अरे रे तपोवनके सहवासी वृक्षो!

जो विना तुम्हारे सींचे जल पीनेकी इच्छा न करती थी; जो आभूषण बनानेके लियेभी प्रेमसे तुम्हारे फूल पत्ते नहीं लेतीथी, और तुम्हारे प्रथम फूलनेमें जो बडा उत्सव करती थी, यह वही शकुन्तला पतिके घरको जाती है इसे आज्ञा दो॥ ९॥

(कोकिलाका शब्द जताकर)

वनवासियोंके प्यारे यह वृक्ष पक्षियांके शब्दद्वारा शकुन्तलाको प्यारे वचनोंसे जानेके लिये अनुमति दे रहे हैं॥ १०॥

(आकाशे)

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभि-
श्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः ।
भूयात्कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ॥ ११ ॥

(सर्वे सविस्मयमाकर्णयन्ति)

गौतमी—जादे, णादिजणसिणिद्धाहिं अणुण्णादगमणासि तवोवणदेवदाहिं । पणम भअवदीणं । [जाते, ज्ञातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनासि तपोवनदेवताभिः । प्रणम भगवतीः]

शकुन्तला—(सप्रणामं परिक्रम्य । जनान्तिकम्) हला पिअंवदे, णं अज्जउत्तदंसणुस्सुआए वि अस्समपदं परिच्चअन्तीए दुक्खेण मे चलणा पुरदो पवट्टन्ति । [हला प्रियंवदे, नन्वार्यपुत्रदर्शनोत्सुकाया अप्याश्रमपदं परित्यजन्त्या दुःखेन मे चरणौ पुरतः प्रवर्तेते]

प्रियंवदा—ण केवलं तवोवणविरहकादरा सही एव्व । तुए उवट्ठिदविओअस्स तवोवणस्स वि दाव समवत्था दीसइ । [न केवलं तपोवनविरहकातरा सख्येव । त्वयोपस्थितवियोगस्य तपोवनस्यापि तावत्समवस्था दृश्यते]

(आकाशमें)

मार्गमें हरी २ कमलिनियोंसे पूर्ण सरोवर आवें, घने २ वृक्ष सूर्यकी किरणोंका ताप रोकें, इसे मार्ग ऐसा सुखकारी हो मानो कमलोंकी पराग बिछा दी हो; और शीतल २ अनुकूल पवन लगे ॥ ११ ॥

(सब आश्चर्यसे सुनते हैं)

गौतमी—पुत्रि ! ज्ञातिजनकी प्यारी वनदेवियें तुझे जानेकी आज्ञा देती हैं । देवियोंका प्रणाम कर ।

शकुन्तला—(प्रणाम कर और घूमकर । हौले हौले) अरी प्रियंवदा ! आर्यपुत्रसे मिलनेकी उत्कण्ठा है, आश्रमका त्यागते हुए दुःखके कारण पैर आगेको नहीं पडते !

प्रियंवदा—सखी ! केवल तूही तपोवनके वियोगसे कातर [दुःखी]

उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा ।
ओसरिअपण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ ॥ १२ ॥
[उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूरा ।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ॥]

शकुन्तला—(स्मृत्वा ।) ताद, लताबहिणिअं वणजोसिणिं दाव आमन्तइस्सं । [तात, लताभगिनीं वनज्योत्स्नां तावदामन्त्रयिष्ये]

कण्वः—अवैमि ते तस्यां सोदर्यस्नेहम् । इयं तावद्दक्षिणेन ।

शकुन्तला—(लतामुपेत्य) वणजोसिणि, चूदसंगता वि मं पच्चालिंग इतोगदाहिं साहाबाहाहिं । अज्जप्पहुदि दूरपरिवत्तिणी भविस्सं । [वनज्योत्स्ने, चूतसंगतापि मां प्रत्यालिंगेतोगताभिः शाखाबाहाभिः । अद्यप्रभृति दूरपरिवर्तिनी भविष्यामि]

नहीं है । तेरे वियोगका समय निकट आते २ तपोवनभी वैसाही दीखता है ।

हरिनियोंने दाभके ग्रास उगलदिये, और मयूर नृत्य त्यागते हैं; लताएँ पीले पत्ते ऐसे त्यागती हैं मानो आंसू गिरा रही हैं[1] ॥ १२ ॥

शकुन्तला—(सुधकरके) पिता ! बहनकी समान माधवी लतासेभी भेंट लूं ।

कण्व—मैं जानता हूं तेरा उसमें सहोदरके समान स्नेह है । यह दाहिनी ओर है ।

शकुन्तला—(लताके निकट जाकर) हे वनज्योत्स्ने ! आमके वृक्षसे लिपटी भी तू इधरको फैली हुई शाखारूपी भुजाओंसे मुझे आलिंगन करले । आजसे दूर वासिनी हो जाऊंगी ।

---

१ लेत न मुखमें घास मृग, मोर तजत नृत जात ।
आंसू जिमि डारत लता, पीरे पीरे पात ॥

कण्वः—

संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे
भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम्।
चूतेन संश्रितवती नवमालिकेय-
मस्यामहं त्वयि च संप्रति वीतचिन्तः॥ १३॥

इतः पन्थानं प्रतिपद्यस्व।

शकुन्तला—(सख्यौ प्रति) हला, एसा दुवेणं वो हत्थे णिक्खेवो। [हला, एषा द्वयोर्युवयोर्हस्ते निक्षेपः]

सख्यौ—अअं जणो कस्स हत्थे समप्पिदो। (इति बाष्पं विहरतः) [अयं जनः कस्य हस्ते समर्पितः]

कण्वः—अनसूये, अलं रुदित्वा। ननु भवतीभ्यामेव स्थिवीकर्तव्या शकुन्तला।

(सर्वे परिक्रामन्ति)

कण्व-

मैंने तेरे लिये अपने मनमें जैसा पति विचारा था, वैसेही अपने अनुरूप पतिको पुण्योंसे तू प्राप्त हो गयी, और यह चमेलीभी आमके आश्रय होगयी, अब मैं इससे और तुझसे निश्चिन्त होगया॥ १३॥

इधर मार्गमें हो ले।

शकुन्तला—(सखियोंसे) अरी! इसे तुम्हारे दोनोंके हाथमें सौंपती हूं।

सखियें—हमें किसके हाथमें सौंपती है? (यों कहकर आंसू गिराती हैं)

कण्व—अरी अनसूया! रोदन त्याग। तुम्हें तौ शकुन्तलाको धीर बँधाना चाहिये।

(सब चलते हैं)

शकुन्तला—ताद, एसा उडजपज्जन्तचारिणी गब्भमन्थरा मअवहू जदा अणघप्पसवा होइ तदा मे कंपि पिअणिवेदहत्तअं विसज्जइस्सह मा एदं विसुमरिस्सासि । [तात, एषोटजपर्यन्तचारिणी गर्भमन्थरा मृगवधूर्यदानघप्रसवा भवति तदा मह्यं कमपि प्रियनिवेदयितृकं विसर्जयिष्यथ । मा इदं विस्मरिष्यसि]

कण्वः—नेदं विस्मरिष्यामः ।

शकुन्तला—(गतिभङ्गं रूपयित्वा) को णु क्खु एसो णिवसणे मे सज्जइ । (इति परावर्तते) [को नु खल्वेष निवसने मे सज्जते]

कण्वः—वत्से,

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे ।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥ १४ ॥

शकुन्तला—हे पिताजी ! पर्णकुटीके निकट चरनेवाली यह गाभन हरिणी जब क्षेमकुशलसे व्यावै तब मेरे पास किसी मंगलसमाचार सुनानेवालेको भेजना । यह भूल मत जाना ।

कण्व—यह न भूलेंगे ।

शकुन्तला—(चलती २ ठहरकर) यह कौन मेरे अंचलको खींचता है । (पीछा फिरकर देखती है)

कण्व—हे पुत्रि !

कुशाकी नौकसे चिरे हुए जिसके मुखमें घावोंपर तू हिंगोटका तेल लगाती थी, जिसे मुनिअन्न [समा, पसाई] के पूले खिला २ कर पाला, और पुत्रकी समान लाड लडाया था वह मृगछौना तेरे पैरोंको इस समय कैसे छोडेगा ॥ १४ ॥

शकुन्तला—वच्छ, किं सहवासपरिच्चाइणिं मं अणुसरसि। अचिरप्पसूदाए जणणीए विणा वड्ढिदो एव्व। दाणिं पि मए विरहिदं तुमं तादो चिन्तइस्सदि। णिवत्तेहि दाव। (इति रुदती प्रस्थिता) [वत्स, किं सहवासपरित्यागिनीं मामनुसरसि। अचिरप्रसूतया जनन्या विना वर्धित एव। इदानीमपि मया विरहितं त्वां तातश्चिन्तयिष्यति। निवर्तस्व तावत्]

कण्वः—

उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं
बाष्पं कुरु स्थिरतया विहतानुबन्धम्।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नतभूमिभागे
मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति॥ १५॥

शार्ङ्गरवः—भगवन्, उदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते। तदिदं सरस्तीरम्। अत्र संदिश्य प्रतिगन्तुमर्हसि।

कण्वः—तेन हीमां क्षीरवृक्षच्छायामाश्रयामः।

(सर्वे परिक्रम्य स्थिताः)

शकुतला—अरे छौना! मुझ सहवास त्यागतीके पीछे २ तू क्यों आता है? तुरन्त जननेवाली माताके विना तुझे मैंने पाला था। अब मेरे विना पिताजी तुझे पालेंगे। अब लौट जा। (यों कहकर रोती हुई जाती है)

कण्व—धीरज धर, ऊंची बरोनियोंवाले नेत्रोंके अवरोधक आंसुओंको रोक, न देखनेके कारण इस ऊंची नीची भूमिमें तेरे चरण टेढे २ पडते हैं॥ १५॥

शार्ङ्गरव—भगवन्! जलाशयपर्यन्तही प्रियजनोंको पहुँचाना चाहिये, ऐसा सुना जाता है। अब यह सरोवरका तट आगया। यहां शिक्षा देकर लौट जाइये।

कण्व—तौ आओ इस बडके वृक्षकी छायामें विश्राम करलें।

(सब घूमकर ठहरते हैं)

कण्वः—(आत्मगतम्) किं नु खलु तत्रभवतो दुष्यन्तस्य युक्तरूपमस्माभिः संदेष्टव्यम् । (इति चिन्तयाति)

शकुन्तला—(जनान्तिकम्) हला, पेक्ख । णलिणीपत्तन्तरिदं वि सहअरं अदेक्खन्ती आदुरा चक्कवाई आरडादि दुक्करं अहं करेमि त्ति । [हला, पश्य नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारौति दुष्करमहं करोमीति]

अनसूया—सहि, मा एव्वं मन्तेहि । [सखि, मैवं मन्त्रय]

एसा वि पिएण विणा गमेइ रअणिं विसाअदीहअरं ।
गरुअं पि विरहदुक्खं आसाबन्धो सहावेधि ॥ १६ ॥
[एषापि प्रियेण विना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम् ।
गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति]

कण्वः—शार्ङ्गरव, इति त्वया मद्वचनात्स राजा शकुन्तलां पुरस्कृत्य वक्तव्यः ।

शार्ङ्गरवः—आज्ञापयतु भवान् ।

कण्व—(आपही आप) अब पूजनीय राजा दुष्यन्तके क्या सन्देशा हमें भेजना चाहिये । (यही विचारते हैं)

शकुन्तला—(हौले २) अरी ! देख तौ । कमलके पत्तोंमें छिपे हुए पतिको न देखकर चकवी व्याकुल हुई कह रही है कि मैं मन्दभागिनी हूं ।

अनसूया—सखि ! ऐसा मत कह ।

यह चकवी विरहसे भारी हुई रात्रीको पतिके विना काटती है, क्योंकि मिलनेकी आशाही ही भारी विरह [वियोग] को मन्द कर देती है ॥ १६ ॥

कण्व—हे शार्ङ्गरव ! शकुन्तलाको आगे कर मेरी ओरसे तुम उस राजासे यौं कह देना ।

शार्ङ्गरव—श्रीमान्की जो आज्ञा ।

कण्वः—

अस्मान्साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन-
स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम् ।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमतःपरं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः ॥ १७ ॥

शार्ङ्गरवः—गृहीतः संदेशः ।

कण्वः—वत्से, त्वमिदानीमनुशासनीयासि । वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम् ।

शार्ङ्गरवः—न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम ।

कण्वः—सा त्वमितः पतिकुलं प्राप्य

शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥ १८ ॥

कण्व—

हे राजन् ! हमें तपोधन ऋषि, और अपने ऊंचे कुल, एवं इस शकुन्तलाके साथ स्वयं उत्पन्न हुई उस प्रीतिको विचार कर इसे अपनी रानियोंके सदृश देखना, इससे अधिक जो हो इसके भाग्याधीन है, वह हम नहीं कह सक्ते ॥ १७ ॥

शार्ङ्गरव—मैंने यह सन्देशा लेलिया ।

कण्व—पुत्रि ! अब तुझेभी शिक्षा दूंगा । हम वनवासी होकरभी लौकिक व्यवहारोंको जानते हैं ।

शार्ङ्गरव—बुद्धिमानोंसे कुछभी नहीं छिपा है ।

कण्व—तू यहांसे सुसरालमें जाकर ।

बडे बूढोंका आदर और सौतोंके साथमें प्यारी सखियोंकी समान वर्त्ताव करिये, पतिके क्रोधसे तिरस्कारकोभी प्राप्त होकर मान मत करिये, दासियोंसे मिठबोलनी रहिये और भाग्यका कभी अहंकार मत करना, इस प्रकार आचरण करनेवाली स्त्रियें गृहस्थिन कहाती हैं और उलटे वर्त्ताव करनेवालीं दूषित होती हैं ॥ १८ ॥

कथं वा गौतमी मन्यते।

गौतमी—एत्तिओ वहूजणस्स उवदेसो। जादे, एदं क्खु सव्वं ओधारेहि। [एतावान्वधूजनस्योपदेशः। जाते, एतत्खलु सर्वमवधारय]

कण्वः—वत्से, परिष्वजस्व मां सखीजनं च।

शकुन्तला—ताद, इदो एव्व किं पिअंवदामिस्साओ सहीओ णिवत्तिस्सन्ति। [तात, इत एव किं प्रियंवदामिश्राः सख्यो निवर्तिष्यन्ते]

कण्वः—वत्से, इमे अपि प्रदेये। न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम्। त्वया सह गौतमी यास्यति।

शकुन्तला—(पितरमाश्लिष्य) कहं दाणिं तादस्स अङ्कादो परिभट्ठा मलअतरूम्मूलिया चन्दणलदा विअ देसन्तरे जीविअं धारइस्सं। [कथमिदानीं तातस्याङ्कात्परिभ्रष्टा मलयतरून्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्ये]

गौतमी ! यह शिक्षा कैसी है।

गौतमी—कुलवधुओंके लिये यह उपदेश उत्तम है। हे बेटी ! इस सबको ध्यान रखना।

कण्व—हे बेटी ! मुझसे और सखियोंसे आलिंगन करले।

शकुन्तला—पिताजी ! मिश्राणी प्रियंवदादिक सखियें क्या यहांहीसे लौट जायँगी ?

कण्व—हे पुत्रि ! यह अभी क्वारी हैं। इनका नगरमें जाना योग्य नहीं। गौतमी तेरे संग जायगी।

शकुन्तला—(पिताका आलिंगन करके) अब मैं पिताकी गोदसे अलग हो मलयागिरिके वृक्षोंसे न्यारी करी हुई चन्दनशाखाकी भांति परदेशमें जीवन धारण करूंगी।

कण्वः—वत्से, किमेवं कातरासि।

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला।
तनयमचिरात्प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि ॥ १९ ॥

(शकुन्तला पितुः पादयोः पतति)

कण्वः—यदिच्छामि ते तदस्तु।

शकुन्तला—(सख्या उपेत्य) हला, दुवे वि मं समं एव्व परिस्सजह। [हला, द्वे अपि मां सममेव परिष्वजेथाम्]

सख्यौ—(तथा कृत्वा) सहि, जइ णाम सो राआ पच्चहिण्णाणमन्थरो भवे तदो से इमं अत्तणामहेअङ्किअं अंगुलीअअं दंसेहि। [सखि, यदि नाम स राजा प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत्ततस्तस्येदमात्मनामधेयांकितमंगुलीयकं दर्शय]

शकुन्तला—इमिणा संदेहेण वो आकम्पिद ह्मि। [अनेन संदेहेन वामाकम्पितास्मि]

सख्यौ—मा भाआहि। सिणेहो पावसंकी। [मा भैषीः। स्नेहः पापशंकी]

कण्व—बेटी ! ऐसी व्याकुल क्यों होती है।

कुलीन पतिकी प्यारी स्त्री होकर ऐश्वर्यके बडे २ कामोंसे प्रतिक्षण घेरी रहैगी, और जैसे पूर्वदिशा सूर्यको उत्पन्न करती है ऐसेही पवित्र पुत्रको वेगही जनकर हमारे वियोगसे उत्पन्न हुए शोकको तू कुछभी स्मरण न करेगी ॥ १९ ॥

(शकुन्तला पिताके चरणोंमें गिरती है)

कण्व—तेरे लिये मैं जो चाहता हूं वह पूर्ण हो।

शकुन्तला—(सखियोंके निकट जाकर) अरी ! दोनों मुझसे एक संगही भेंट लो।

सखियें—(मिलकर) सखि ! यदि वह राजा तुझे भूलगया तौ उसके नामके अक्षरोंसे युक्त यह उसकी मूँदरी दिखा दीजे।

शकुन्तला—तुम्हारे इस सन्देहसे तौ मैं कम्पित होगयी।

सखियें—मय भत कर। स्नेहमें बुरी शंका होतीही हैं।

शार्ङ्गरवः—युगान्तरमारूढः सविता । त्वरतामत्रभवती ।

शकुन्तला—(आश्रमाभिमुखी स्थित्वा) ताद, कदा णु भूओ तवोवणं पेक्खिस्सं । [तात, कदा नु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये]

कण्वः—वत्से, श्रूयताम् ।

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यासि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥ २० ॥

गौतमी—जादे, परिहीअदि गमणवेला । णिवत्तेहि पिदरं । अहवा चिरेण वि पुणो पुणो एसा एव्वं मन्तइस्सदि । णिवत्तदु भवं । [जाते, परिहीयते गमनवेला । निवर्तय पितरम् । अथवा चिरेणापि पुनः पुनरेषैवं मन्त्रयिष्यते । निवर्ततां भवान्]

कण्वः—वत्से, उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम् ।

शर्ङ्गरव—अब सूर्य पहर एक चढ गये । भगवती शीघ्रता करो ।

शकुन्तला—(आश्रमकी ओर मुख कर खडी होके) हे पिताजी ! तपोवनको फिर कब देखूंगी ।

कण्व—बेटी ! सुन ।

बहुत कालपर्यन्त सम्पूर्ण पृथिवीकी सपत्नी होकर और अप्रतिहत रथकी गतिवाले दुष्यन्तके अपत्य अपने पुत्रको स्थापित कर उसके ऊपर कुटुम्बका भार सौंपनेवाले पतिके साथ इस शान्त आश्रममें चरण धरेगी ॥ २० ॥

गौतमी—हे पुत्री ! चलनेका मुहूर्त्त बीता जाता है । पिताको जाने दे । अथवा यह तो वारम्वार बहुत देरतक ऐसेही कहती रहैगी । आप बगद जायें ।

कण्व—बेटी ! तपके अनुष्ठानमें विघ्न होताहै ।

शकुन्तला—(भूयः पितरमाश्लिष्य) तवच्चरणपीडिदं तादसरीरं। ता मा अदिमेत्तं मम किदे उक्कण्ठं। [तपश्चरणपीडितं तातशरीरम् । तन्मातिमात्रं मम कृत उत्कण्ठस्व] ।

कण्वः—(सानिःश्वासम् ।)

शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम् ।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः ॥ २१ ॥

गच्छ । शिवास्ते पन्थानः सन्तु ।

(निष्क्रान्ता शकुन्तला सहयायिनश्च ।)

सख्यौ—(शकुन्तलां विलोक्य) हद्धी, हद्धी । अन्तलिहिदा सउन्दला वणराईए । [हा धिक्, हा धिक् । अन्तर्हिता शकुन्तला वनराज्या]

कण्वः—(सानिःश्वासम्) अनसूये, गतवती वां सहधर्मचारिणी । निगृह्य शोकमनुगच्छतं मां प्रस्थितम् ।

उभे—ताद, सउन्दलाविरहिदं सुण्णं विअ तवोवणं कहं पविसामो । [तात, शकुन्तलाविरहितं शून्यमिव तपोवनं कथं प्रविशावः]

शकुन्तला--(पितासे फिर भेंटकर) पिताजी ! तुम्हारा शरीर तपस्या करनेसे पीडित है । अतः मेरे लिये अन्यन्त उत्कण्ठा मत करना ।

(ऊंची श्वास लेकर)

हे पुत्री ! तेरे बोये हुए पर्णशालाके द्वारपर जमे मुनिअन्नको देख २ मेरा शोक कैसे शान्त होगा ॥ २१ ॥

जा । तेरे मार्गमें मंगल हो ।

(शकुन्तला और साथी जाते हैं)

सखियें—(शकुन्तलाकी ओर निहारकर) हाय हाय शकुन्तलाको वनकी कतारने दुरालिया ।

कण्व--(श्वास लेकर) हे अनसूया ! तुम्हारी सखी चलीगयी । शोक त्याग मेरे पीछे चली आओ ।

दोनों--पिताजी ! शकुन्तला विना सूनेसे तपोवनमें कैसे चलें ?

कण्वः—स्नेहप्रवृत्तिरेवंदर्शिनी। (सविमर्शं परिक्रम्य) हन्त भोः शकुन्तलां पतिकुलं विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम्। कुतः।

अर्थो हि कन्या परकीय एव
तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥ २२ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति चतुर्थोऽङ्कः।

कण्व—स्नेहपरंपरा ऐसीही होती है (विचारसे घूमकर) हायरे। शकुन्तलाको सुसराल भेजकर अब निश्चिन्तता हुई। क्योंकि।

कन्या परायेही घरका धन कहाती है, उसे आज पतिके घर भेजकर मुझे आज ऐसी निश्चिन्तिता हुई जैसे किसीकी धरोहर लौटाकर सुख होता है[1] ॥ २२ ॥

(यों कहते हुए सब जाते हैं)

इति चतुर्थ अंक समाप्त.

---

१ पर घरको धन दीय, पठै ताहि घर पीयके।
आज विमल मन हीय, फेर धरोहर जिमि दई ॥

पञ्चमोऽङ्कः ।

(ततः प्रविशत्यासनस्थो राजा विदूषकश्च)

विदूषकः—(कर्णं दत्त्वा ।) भो वअस्स, संगीतसालन्तरे अवधाणं देहि । कलविसुद्धाए गीदीए सरसंजोओ सुणीअदि । जाणे तत्तहोदी हंसवदिआ वण्णपरिअअं करेदि त्ति । [भो वयस्य, संगीतशालान्तरेऽवधानं देहि । कलविशुद्धाया गीतेः स्वरसंयोगः श्रूयते । जाने तत्रभवती हंसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति]

राजा—तूष्णीं भव । यावदाकर्णयामि ।

(आकाशे गीयते)

अहिणवमहुलोलुवो भवं तह परिचुम्बिअ चूअमञ्जरिं ।
कमलवसइमेत्तणिव्वुदो महुअर विह्मरिओ सि णं कहं ॥ १ ॥
[अभिनवमधुलोलुपो भवांस्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम् ।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम् ॥]

राजा—अहो रागपरिवाहिनी गीतिः ।

(तदनंतर आसनपै स्थित राजा और विदूषक आता है)

विदूषक--(कान लगाकर) हे मित्र ! संगीतशालाकी ओर ध्यान लगाओ, मधुर गान सुनाई देता है । मैं जानूं महाराणीहंसपदिका गानेका अभ्यास करती है ।

राजा—चुप रह । सुनूं तौ सही ।

(आकाशमें गान होता है)

नवीन मधुके लोभी हे भ्रमर ! तू तौ नित्य आमकी मंजरीका चुम्बन करता था, अब कमलमें वसतेही उस मंजरीको ऐसा क्यों भूलगया[1] ॥ १ ॥

राजा—आह ! कैसा प्रेम उत्पन्न करनेवाला गीत है !

---

१ भ्रमर ! तुम मधुके चाखनहार ।
आमकी रस भरी मृदुल मंजरी तासों प्रीति अपार ॥
रहसि रहसि नित रस लेवेको धावतहे कर नेम ।
क्यों कल आयी कमल वसेरे कित भूले प्यारीको प्रेम ॥

विदूषकः—किं दाव गीदीए अवगओ अक्खरत्थो । [किं तावद्गीत्या अवगतोऽक्षरार्थः]

राजा—(स्मितं कृत्वा) सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः । तस्या देवीवसुमतीमन्तरेण मदुपालम्भमवगतोऽस्मि । सखे माढव्य, मद्वचनादुच्यतां हंसपदिका । निपुणमुपालब्धोऽस्मीति ।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि । (उत्थाय) भो वअस्स, गहीदस्स ताए परकीएहिं हत्थेहिं सिहण्डए ताडीअमाणस्स अच्छाराए वीदराअस्स विअ णत्थि दाणिं मे मोक्खो । [यद्भवानाज्ञापयति । भो वयस्य, गृहीतस्य तया परकीयैर्हस्तैः शिखण्डके ताड्यमानस्याप्सरसा वीतरागस्येव नास्तीदानीं मे मोक्षः]

राजा—गच्छ । नागरिकवृत्त्या संज्ञापयैनाम् ।

विदूषकः—ण जाणे का गई । (इति निष्क्रान्तः) [न जाने का गतिः]

राजा—(आत्मगतम्) किं नु खलु गीतार्थमाकर्ण्येष्टजनविरहादृतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि । अथवा ।

विदूषक—क्या इस गीतका अक्षरार्थभी समझ लिया ।

राजा—(मुसकाकर) हां समझा प्रथम इस व्यक्तिसेभी प्रेम था । अब देवी वसुमतिके प्रेमसे विच्छेद होगया अतः उलहना देती है। हे मित्र माढव्य ! हमारी ओरसे हंसपदिकासे कहदे । भला उलाहना दिया ।

विदूषक— आपकी जो आज्ञा (उठकर) हे मित्र ! जैसे अप्सरासे तपस्वियोंका इसी प्रकार पराये हाथों केश पकडे हुए मेरा उस रानीसे छुटकारा न होगा ।

राजा—चल जा । चतुराईकी रीतिसे उसे समझा दीजे ।

विदूषक—न जाने क्या गति होगी । (यौं कहता चलागया) ।

राजा—(आपही आप) यद्यपि प्रियजनका वियोग नहीं है तथापि न जाने गीतका अर्थ सुनकर क्यों अति उत्कण्ठा हो आई । अथवा ।

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दा-
न्पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ २ ॥

(इति पर्याकुलस्तिष्ठति)

(ततः प्रविशति कंचुकी)

कंचुकी—अहो नु खल्वीदृशीमवस्थां प्रतिपन्नोऽस्मि ।

आचार इत्यवहितेन मया गृहीता
या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः ।
काले गते बहुतिथे मम सैव जाता
प्रस्थानविक्लवगतेरवलम्बनार्था ॥ ३ ॥

भोः, कामं धर्मकार्यमनतिपात्यं देवस्य । तथापीदानीमेव धर्मासनादुत्थिताय पुनरुपरोधकारि कण्वशिष्यागमनमस्मै नोत्सहे निवेदितुम् । अथवाविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः । कुतः ।

मनोहर वस्तु देखकर और मधुर शब्द सुनकर यदि सुखी मनुष्यभी उत्कण्ठित [उदासी] हो जाय तौ निश्चय उसका चित्त विना जाने पूर्वजन्मके मित्रोंका भाव स्मरण करता है ॥ २ ॥

(यह विचारकर व्याकुल हो बैठता है)

(इतनेहीमें कंचुकी आता है)

कंचुकी—ओहो ! अब ऐसी दशाको प्राप्त होगया ।

सावधान मैंने वेंतकी लाठी कर्त्तव्य कार्य समझ राजाके रणवासमें ली थी वही लाठी अब बहुत काल बीतनेपर चलते समय मुझ डगमगाते पैरोंवालेके लिये चलनेका सहारा होगयी ॥ ३ ॥

अरे, महाराजको धर्मकार्य करनेही हैं । तथापि अभी धर्मासनसे उठकर गये महाराजसे पुनः लौटानेवाले कण्वशिष्योंका आगमन कहनेका साहस नहीं । अथवा इस संसारके अधिकारमें विश्राम कहाँ । क्योंकि ।

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव
रात्रिंदिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः
षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥ ४ ॥

यावन्नियोगमनुतिष्ठामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) एष देवः

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा
निषेवतेऽशान्तमना विविक्तम्।
यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः
शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः ॥ ५ ॥

(उपगम्य) जयतु जयतु देवः। एते खलु हिमगिरेरुपत्यकारण्यवासिनः काश्यपसंदेशमादाय सस्त्रीकास्तपस्विनः संप्राप्ताः। श्रुत्वा देवः प्रमाणम्।

राजा—(सादरम्) किं काश्यपसंदेशहारिणः।

कंचुकी—अथ किम्।

सूर्य एकही वार रथमें अश्व जोडकर चलेहैं, और पवन रात दिन वहताही रहता है, तथा शेषजीभी निरन्तर भूमिका भार धारण करे रहते हैं, छठा भाग लेनेवाले राजाका भी यही धर्म है ॥ ४ ॥

अब इस सन्देशेको निबटादूं। (फिरकर और देखकर) यह महाराज

सन्तानकी समान प्रजाकी रक्षा कर थके हुए एकान्तमें विश्राम कर रहे हैं; जैसे हाथियोंके झुण्डको वनमें पहुँचाकर धूपसे तपा हुआ हाथी दिनमें शीतल स्थानमें विश्राम करता है ॥ ५ ॥

(निकट जाकर) महाराजकी जय हो। यह हिमालयकी तरैटी [तराई] के वनवासी तपस्वी स्त्रियों सहित कण्वका सन्देशा लेकर आये हैं। सुनकर महाराज प्रमाण हैं।

राजा—(आदरसे) क्या कण्वका सन्देशा लाये हैं ?

कंचुकी—हां महाराज !

---

१ अर्थात्—तबसे विश्राम नहीं करा.

राजा—तेन हि मद्वचनाद्विज्ञाप्यतामुपाध्यायः सोमरातः । अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हतीति । अहमप्यत्र तपस्विदर्शनोचिते प्रदेशे स्थितः प्रतिपालयामि ।

कंचुकी—यदाज्ञापयाति देवः । (इति निष्क्रान्तः)

राजा—(उत्थाय) वेत्रवति, अग्निशरणमार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो । [इत इतो देवः]

राजा—(परिक्रामति । अधिकारखेदं निरूप्य ।) सर्वः प्रार्थितमर्थमधिगम्य सुखी संपद्यते जन्तुः । राज्ञां तु चरितार्थता दुःखान्तरैव ।

औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेनम् ।
नातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥ ६ ॥

राजा—तब तौ मेरी ओरसे सोमरात उपाध्याय [पुरोहित] से कहदे । इन आश्रमवासियोंको वैदिकविधिसे सत्कार करके स्वयं प्रवेश कराओ । मैंभी यहां तपस्वियोंसे भेंटने योग्य स्थानमें बैठा वाट जोहता हूं ।

कंचुकी—महाराज जो आज्ञा देतेहैं । (यौं कहता चला गया)

राजा—(उठकर) हे प्रतिहारिणी ! अग्निशालाका मार्ग बता ।

प्रतीहारी—इधर चलो महाराज इधर ।

राजा—(चलता है । अधिकारका दुःख दिखाकर) अपने २ मनोरथको पाकर सब प्राणी सुखी हो जाते हैं । परन्तु राजाओंकी कृतार्थता निरी दुःखसे पूर्ण होती है ।

राज्यप्राप्ति मनकी अभिलाषा पूर्ण करती है, परन्तु प्राप्त राज्यका परिपालन करना क्लेश देता है, अपने हाथमें मूठ थामे हुए छत्रीकी समान राज्य न अति श्रम दूर करता और न अधिक श्रम करताहै॥६॥

(नेपथ्ये)

वैतालिकौ—विजयतां देवः।

प्रथमः—

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥ ७ ॥

द्वितीयः—

नियमयसि कुमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम् ॥ ८ ॥

(नेपथ्यमें)

दो स्तुतिपाठक—महाराजकी जय हो।

पहला—

अपने सुखमें अभिलाषारहित आप लोकके हेतु नित्य दुःख सहते हो आपका वर्त्ताव [धर्म] ही ऐसा है, देखते हैं कि—वृक्ष अपने शिरपर कडी घाम सहते पर छायामें आश्रय करनेवालोंका ताप शान्त करते हैं ॥ ७ ॥

दूसरा—

तुम हाथमें दण्ड लेकर कुमार्गगामियोंको नीतिमें स्थित करतेहो, विवादको शान्त करते और रक्षाका विधान करतेहो, बहुतसी सम्पत्तियोंमें और राजा भलेही गिने जाय, परन्तु—प्रजाके साथमें बन्धुओंकी समान वर्त्ताव कर तुझहीमें समाप्त है ॥ ८ ॥

---

१ अर्थात्—छत्रीकी मूठ थामनेसे क्लेश और पीछे घाम दूर होनेसे सुख होता है ऐसेही राज्यपालनसे क्लेश और मिलनेसे सुख होता है।

राजा—एते क्लान्तमनसः पुनर्नवीकृताः स्मः । (इति परिक्रामाति)

प्रतीहारी—अहिणवसम्मज्जणसास्सिरीओ सण्णिहिदहोमधेणू अग्गिसरणालिन्दो । आरुहदु देवो । [अभिनवसंमार्जनसश्रीकः संनिहितहोमधेनुरग्निशरणालिन्दः । आरोहतु देवः]

राजा—(आरुह्य परिजनांसावलम्बी तिष्ठाति) वेत्रवति, किमुद्दिश्य भगवता काश्यपेन मत्सकाशमृषयः प्रेषिताः स्युः ।

किं तावद्व्रतिनामुपोढतपसां विघ्नैस्तपो दूषितं
धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत प्राणिष्वसच्चेष्टितम् ।
आहोस्वित्प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधा-
मित्यारूढबहुप्रतर्कमपरिच्छेदाकुलं मे मनः ॥ ९ ॥

प्रतीहारी—सुचरिदणन्दिणो इसीओ देवं सभाजइदुं आअदेत्ति तक्केमि । [सुचरितनन्दिन ऋषयो देवं सभाजयितुमागता इति तर्कयामि]

राजा—इन्होंने मेरे मलीन मनको फिर नया कर दिया । (यौं कहकर चलता फिरता है)

प्रतीहारी—तुरन्त झाडने बुहारनेसे सुन्दर और निकटही होमकी धेनु बँधी हुई अग्निशालाकी छत्त है । चढिये महाराज ।

राजा—(चढकर साथियोंके कन्धोंपर सहारा देकर बैठता है) हे प्रतीहारी ! किस निमित्तसे भगवान् कण्वने हमारे पास ऋषि भेजे हैं ।

क्या व्रतधारी और तपोधनोंके तपको विघ्नोंने दूषित कर दिया, अथवा पवित्र वनमें विचरनेवाले जीवोंके साथमें किसीने असज्जन वर्त्ताव करा, किंवा मेरे दुराचारोंसे वृक्षोंका फूलना फलना रुक गया, इस प्रकारकी अनेक तर्क वितर्कसे युक्त मेरा मन व्याकुल है ॥ ९ ॥

प्रतीहारी—मैं समझती हूं कि यह ऋषिलोग आपके सुकर्मोंसे प्रसन्न हो धन्यवाद देने आये हैं ।

(ततः प्रविशन्ति गौतमीसहिताः शकुन्तलां पुरस्कृत्य मुनयः पुरश्चैषां कंचुकी पुरोहितश्च)

कंचुकी—इत इतो भवन्तः ।

शार्ङ्गरवः—शारद्वत,

महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरहो
न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते ।
तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव ॥ १० ॥

शारद्वतः—जाने भवान्पुरप्रवेशादित्थंभूतः संवृत्तः । अहमपि
अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम् ।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि ॥ ११ ॥

शकुन्तला—(निमित्तं सूचयित्वा) अम्महे, किं मे वामेदरं णअणं विप्फुरादि । [अहो, किं मे वामेतरन्नयनं विस्फुरति]

(इतनेहीमें गौतमीसहित मुनि शकुन्तलाको आगे करे आते हैं और उनके अगाडी कंचुकी तथा पुरोहित आते हैं)

कंचुकी--ऋषियो ! इधर चलो ।

शार्ङ्गरव--हे शारद्वत !

मर्यादामें स्थित यह राजा बडा धर्मात्मा है, और इसकी प्रजामें कोई नीचभी कुमार्गमें नहीं चलता, तथापि एकान्तवासके अभ्यासी मेरे मनको मनुष्योंसे भरा पुरा यह स्थान अग्निपूर्ण घरकी समान भान होता ॥ १० ॥

शारद्वत--सत्य है नगरमें घुसतेही तू ऐसा-होगया । और मुझेभी यह सुख चाहनेवाले ऐसे दीखते हैं जैसे स्नान करे हुएको मैलाकुचैला, शुद्धको अशुद्ध, जागतेको शयन करता, अथवा स्वच्छन्दचारीको बँधुआ दीखता है ॥ ११ ॥

शकुन्तला--(शकुन देखकर) हाय ! मेरा दाहिना नेत्र क्यों फडकता है ?

गौतमी—जादे, पडिहदं अमङ्गलं। सुहाइं दे भत्तुकुलदेवदाओ वितरन्दु। (इति परिक्रामति) [जाते, प्रतिहतममङ्गलम्। सुखानि ते भर्तृकुलदेवता वितरन्तु]

पुरोहितः—(राजानं निर्दिश्य) भो भोस्तपस्विनः, असावत्रभवान्वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव मुक्तासनो वः प्रतिपालयति। पश्यतैनम्।

शार्ङ्गरवः—भो महाब्राह्मण, काममेतदभिनन्दनीयं तथापि वयमत्र मध्यस्थाः। कुतः।

भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमै-
र्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥ १२ ॥

प्रतीहारी—देव, पसण्णमुहवण्णा दीसन्ति। जाणामि वीस्सद्धकज्जा इसीओ। [देव, प्रसन्नमुखवर्णा दृश्यन्ते। जानामि विश्रब्धकार्या ऋषयः]

गौतमी—बेटी ! अमंगलोंका नाश हो। तेरे पतिके कुलदेव सुखका विस्तार करेंगे। (यों कहकर टहलती है)

पुरोहित—(राजाको बताकर) हे तपस्वियो ! वर्णाश्रमके प्रतिपालक यह श्रीमहाराज पहिलेही आसन त्यागे तुम्हारी बाट जोह रहे हैं। इनकी ओर देखो।

शार्ङ्गरव—हे महाब्राह्मण ! यह तो अति बडाई है तथापि हम निस्पृह हैं। कारण कि।

फल लगनेसे वृक्ष झुक जाते हैं, जल भरनेसे अतिवर्षालु मेघ नम्र हो जाते हैं, सज्जन जन धनसम्पत्तिसे लच जाते हैं, परोपकारियोंका यह स्वभावही होताहै ॥ १२ ॥

प्रतीहारी—स्वामिन् ! मुखके वर्ण प्रसन्न दीखते हैं। मैं जानूं ऋषि शान्त कार्य लाये हैं।

राजा—(शकुन्तलां दृष्ट्वा) अथात्रभवती

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥ १३ ॥

प्रतीहारी—देव, कुतूहलगब्भोपहिदो ण मे तक्को पसरदि। णं दंसणीआ उण से आकिदी लक्खीअदि। [देव, कुतूहलगर्भोपहितो न मे तर्कः प्रसरति। ननु दर्शनीया पुनरस्या आकृतिर्लक्ष्यते]

राजा—भवतु। अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्।

शकुन्तला—(हस्तमुरसि कृत्वा। आत्मगतम्) हिअअ, किं एव्वं वासि। अज्जउत्तस्स भावं ओहारिअ धीरं दाव होहि। [हृदय, किमेवं वेपसे। आर्यपुत्रस्य भावमवधार्य धीरं तावद्भव]

पुरोहितः—(पुरो गत्वा) एते विधिवदर्चितास्तपस्विनः। कश्चिदेषामुपाध्यायसंदेशः। तं देवः श्रोतुमर्हति।

राजा—अवहितोऽस्मि।

ऋषयः—(हस्तानुद्यम्य) विजयस्व राजन्।

राजा—(शकुन्तलाकी ओर देखकर) यह महामन्य घूंघटपटसे मुख छिपाये एवं जिसके शरीरकी सम्पूर्ण सुन्दरता प्रगट नहीं है, पीले पत्तोंके बीचमें कोंपलकी समान कौन हैगी ॥ १३ ॥

प्रतीहारी—महाराज! वृत्तान्त जाननेकी लालसासे मेरा विचार नहीं बढता। परन्तु-इसकी मूर्ति दर्शनीय दीखती है।

राजा—हुआ करो। परनारीका वर्णन करना अयोग्य है।

शकुन्तला—(हृदयपर हाथ रखकर। आपही आप) अरे हृदय! तू इतना क्यों कांपता है। आर्यपुत्रके प्रेमकी सुध कर धीर धर।

पुरोहित—(आगे जाकर) इन तपस्वियोंका आदरसत्कार विधिपूर्वक कर दिया। इनके गुरुका कुछ सन्देशा है। महाराज उसे सुनलें।

राजा-मैं दत्तचित्त हूं।

ऋषि—(हाथ उठाकर) महाराज! आपकी जयजयकार हो।

राजा—सर्वानभिवादये।

ऋषयः—इष्टेन युज्यस्व।

राजा—अपि निर्विघ्नतपसो मुनयः।

ऋषयः—

कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि।
तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति॥ १४॥

राजा—अर्थवान्खलु मे राजशब्दः। अथ भगवांल्लोकानुग्रहाय कुशली कण्वः।

ऋषयः—स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः। स भवन्तमनामयप्रश्न-पूर्वकमिदमाह।

राजा—किमाज्ञापयति भगवान्।

शार्ङ्गरवः—यन्मिथः समयादिमां मदीयां दुहितरं भवानुपायंस्त तन्मया प्रीतिमता युवयोरनुज्ञातम्। कुतः।

राजा—सबको प्रणाम करता हूं।

ऋषि—मनोरथ सफल हों।

राजा—मुनियोंका तप तौ निर्विघ्न होता है?

ऋषि—

आपसे रक्षक विद्यमान रहते भला सज्जनोंके धर्माचरणमें विघ्न कहां? सूर्यके तपते समय अन्धकार कैसे प्रगट हो सकता है॥ १४॥

राजा—अब मेरा राजा शब्द यथार्थ है। लोकहितकारी भगवान् कण्व तौ कुशल हैं?

ऋषि—कुशल तौ सिद्धेश्वरोंके आधीन हैं। उन्होंने आपका अनामय[1] [कुशल] पूछकर यह कहा है।

राजा—महर्षिजीने क्या आज्ञा करी है?

शार्ङ्गरव—जो कि तुमने हमारी कन्याको गान्धर्वविवाहसे व्याह लिया है, वोह तुम दोनोंका संगम मैंने प्रसन्नतासे स्वीकार कर लिया। क्योंकि।

---

१ ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रबन्धोरनामयम्।

त्वमर्हतां प्राग्रसरः स्मृतोऽसि य-
च्छकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया।
समानयंस्तुल्यगुणं वधूवरं
चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः ॥ १५ ॥

तदिदानीमापन्नसत्त्वा प्रतिगृह्यतां सहधर्मचरणायेति।

गौतमी—अज्ज, किंपि वत्तुकामह्मि। ण मे वअणावसरो अत्थि। कहंत्ति। [आर्य, किमपि वक्तुकामास्मि। न मे वचनावसरोऽस्ति। कथमिति]

णावेक्खिओ गुरुअणो इमाए ण हु पुच्छिदो अ बन्धुअणो।
एक्कक्कमे व्व चरिए भणामि किं एक्कमेक्कस्स ॥ १६ ॥
[नापेक्षितो गुरुजनोऽनया न खलु पृष्टश्च बन्धुजनः।
परस्परास्मिन्नेव चरिते भणामि किमेकैकम् ॥]

शकुन्तला—(आत्मगतम्) किं णु क्खु अज्जउत्तो भणादि। [किं नु खल्वार्यपुत्रो भणति]

राजा—किमिदमुपन्यस्तम्।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) पावओ क्खु वअणोवण्णासो। [पावकः खलु वचनोपन्यासः]

तुम तौ पूजनीयोंके अग्रगण्य कहे गये हो, और शकुन्तला साक्षात् मूर्तिमती सत्क्रिया है; अत एव समान गुणवान् दूलह दुलहनको मिलाकर विधाता चिरकालतक बतकहीको न प्राप्त हुआ ॥ १५ ॥

अव गर्भवतीको धर्माचरणके लिये ग्रहण करो।

गौतमी—राजन्! मैंभी कुछ कहा चाहती हूं। मेरे कहनेका समय नहीं आया।

इसने गुरुजनोंकी अपेक्षा नहीं करी, और बन्धुजनोंसेभी नहीं पूछा; परस्पर ऐसा आचरण करलिया अब एक दूसरेसे बातचीत करलो ॥ १६ ॥

शकुन्तला—(आपही आप) अब जाने आर्यपुत्र क्या कहेंगे?

राजा—यह क्या कुचाल है?

शकुन्तला—(आपही आप) यह वचन तौ केवल अग्निही है।

शार्ङ्गरवः--कथमिदं नाम। भवन्त एव सुतरां लोकवृत्तान्त-निष्णाताः।

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां
जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते
प्रियाप्रिया च प्रमदा स्वबन्धुभिः ॥ १७ ॥

राजा—किं चात्रभवती मया परिणीतपूर्वा।

शकुन्तला—(सविषादम्। आत्मगतम्) हिअअ, संपदं दे आसङ्का। [हृदय, सांप्रतं त आशङ्का]

शार्ङ्गरवः—

किं कृतकार्यद्वेषो धर्मं प्रति विमुखता कृतावज्ञा।

राजा—कुतोऽयमसत्कल्पनाप्रश्नः।

शार्ङ्गरवः—

मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु ॥ १८ ॥

शार्ङ्गरव--यह क्या बात? आप तो लोकाचारको भली प्रकार जानते हैं।

पिताके घर रहनेवाली सुहागिन पतिव्रता स्त्रीकोभी मनुष्य अन्यथा शंका करते हैं, इस कारण भाईबन्धुओंको स्त्रीका पतिके निकट भेज-देना कहा गया है, चाहे वह स्त्री प्रिय हो वा अप्रिय हो ॥ १७ ॥

राजा--क्या इस महारानीको कभी प्रथम मैंने व्याहाथा?

शकुन्तला—(खेदसे। आपही आप) हे हृदय! अब तुझमें शंका है।

शार्ङ्गरव—

क्या गान्धर्वविवाहसे द्वेष है, वा धर्मसे विमुख हो, अथवा करे हुए कार्यका निरादर है?

राजा--यह कल्पना असत्य है।

शार्ङ्गरव--

प्रायः ऐश्वर्याभिमानियोंमे ऐसे २ ही विकार वृद्धिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १८ ॥

राजा—विशेषेणाधिक्षिप्तोऽस्मि।

गौतमी—जादे, मुहुत्तअं मा लज्ज। अवणइस्सं दाव दे ओउण्ठणं। तदो तुमं भट्टा अहिजाणिस्सदि। (इति यथोक्तं करोति) [जाते, मुहूर्तं मा लज्जस्व। अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुण्ठनम्। ततस्त्वां भर्ताभिज्ञास्यति]

राजा—(शकुन्तलां निर्वर्ण्य। आत्मगतम्)

इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेति व्यवस्यन्।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं
न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम्॥ १९॥

(इति विचारयन्स्थितः)

प्रतीहारी—अहो धम्मावेक्खिआ भट्टिणो। ईदिसं णाम सुहोवणदं रूवं देक्खिअ को अण्णो विआरेदि। [अहो धर्मापेक्षिता भर्तुः। ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं दृष्ट्वा कोऽन्यो विचारयति]

शार्ङ्गरवः—भो राजन्, किमिति जोषमास्यते।

राजा—बडे संकटमें फँसगया।

गौतमी—बेटी! थोडी देर मत लजावे। अब तेरा घूंघट पट हटाये देती हूं। तभी तेरा पति चीन्हेगा। (यों कह अंचल उघाडती है)

राजा—(शकुन्तलाकी प्रशंसा कर। मनही मनमें)

अनायाससे प्राप्त यह मनोहर रूप प्रथम अधिगत हुआ था कि नहीं यह सोच विचार करता, भोरसमय भ्रमर तुषारसे पूर्ण कुन्दके पुष्पकी समान इसे भोगने वा त्यागनेको समर्थ नहीं हूं॥ १९॥

(यह विचारता बैठ गया)

प्रतीहारी—आहा! स्वामीका धर्मपालन। अनायाससे प्राप्त ऐसे रूपको प्राप्त होकर और कौन विचारता।

शार्ङ्गरव—हे महाराज! ऐसे मौन क्यों बैठे हो?

राजा—भोस्तपोधनाः, चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्याः स्मरामि । तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्त्वलक्षणां प्रत्यात्मानं क्षेत्रिणमाशङ्कमानः प्रतिपत्स्ये ।

शकुन्तला—(अपवार्य) अज्जस्स परिणए एव्व संदेहो कुदो दाणिं मे दूराहिरोहिणी आसा । [आर्यस्य परिणय एव संदेहः । कुत इदानीं मे दूराधिरोहिण्याशा]

शार्ङ्गरवः—मा तावत्

कृताभिमर्षामनुमन्यमानः
सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः ।
मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमथ
पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन ॥ २० ॥

शारद्वतः—शार्ङ्गरव, विरम त्वमिदानीम् । शकुन्तले, वक्तव्यमुक्तमस्माभिः । सोऽयमत्रभवानेवमाह । दीयतामस्मै प्रत्ययप्रतिवचनम् ।

राजा—हे तपोधन ऋषियो ! बहुतसा विचार करभी मुझे इस भगवतीके स्वीकारका स्मरण नहीं होता । अब गर्भके स्पष्ट चिह्नोंवाली इसे निडर हो कैसे अपनी पत्नी बनालूं ।

शकुन्तला—(निवारण कर) आर्यको विवाहहीमें सन्देह है । अब और दूर २ की आशा कहां ?

शार्ङ्गरव—ऐसा मत कहो

तुझसे बरजोरी भोगी गई कन्याको ऋषिने स्वीकार कर चोरीकी अपनी वस्तुको निर्दोष करनेके लिये जैसे चोरके हाथमें देते हैं इस प्रकार जिसने देदी उस मुनिका तिरस्कार मत करो ॥ २० ॥

शारद्वत—हे शार्ङ्गरव ! अब तुम मौन हो रहो । हे शकुन्तले ! कहने योग्य तो हमने कह दिया । सो उसमें यह महाराज ऐसा कहते हैं । अब इसे कोई सुध दिवानेका वचन देना चाहिये ।

शकुन्तला—(अपवार्य) इमं अवत्थन्तरं गदे तारिसे अणुराए किं वा सुमराविदेण। अत्ता दाणिं मे सोअणीओ त्ति ववसिदं एदं। (प्रकाशम्) अज्जउत्त, (इत्यर्धोक्ते) संसइदे दाणिं परिणहाण एसो समुदाआरो। पोरव, ण जुत्तं णाम दे तह पुरा अस्समपदे सहावुत्ताणहिअअं इमं जणं समअपुव्वं पतारिअ ईदिसाहे अक्खरेहिं पच्चाचक्खिदुं। [इदमवस्थान्तरं गते तादृशेऽनुरागे किं वा स्मारितेन। आत्मेदानीं मे शोचनीय इति व्यवसितमेतत् आर्यपुत्र, संशयित इदानीं परिणये नैष समुदाचारः। पौरव, न युक्तं नाम ते तथा पुराश्रमपदे स्वभावोत्तानहृदयमिमं जनं समयपूर्वं प्रतार्येदृशैरक्षरैः प्रत्याख्यातुम्]

राजा—(कर्णौ पिधाय) शान्तं पापम्।

व्यपदेशमाविलयितुं किमीहसे जनमिमं च पातयितुम्।
कूलंकषेव सिन्धुः प्रसन्नमम्भस्तटतरुं च ॥ २१ ॥

शकुन्तला—होदु। जइ परमत्थतो परिपरिग्गहसंकिणा तुए एव्वं वत्तुं पउत्तं ता अहिण्णाणेण इमिणा तुह आसंकं अवणइस्सं। [भवतु। यदि परमार्थतः परपरिग्रहशंकिना त्वयैवं वक्तुं प्रवृत्तं तदभिज्ञानेनानेन तवाशंकामपनेष्यामि]

शकुन्तला--(आपही आप) इस अवस्थान्तरको प्राप्त होनेपर सुध दिलानेसे क्या होगा। अब तो मुझे अपने अपवादका सोच है। (प्रगट) हे आर्यपुत्र! (यों आधाही कहकर रुकती है) यदि विवाहहीमें सन्देह है तो यह कहना अयोग्य है हे पुरुवंशी! आपको यह योग्य नहीं कि प्रथम आश्रममें इस सीधेसाधे जनको प्रतिज्ञाओंसे ठगकर ऐसे निष्ठुर अक्षर कहते हो।

राजा--(कान ढककर) हर हर! ऐसे पापवचन मत कहो।

तू कुल दूषित करने और मुझे पतित करनेकी क्यों चेष्टा करती है, जैसे अपने तट खसानेवाली नदी अपने जलको कलुषित करती एवं तीरके वृक्षोंको पतित करती है ॥ २१ ॥

शकुन्तला--जो हो। यदि सत्यही परनारीकी शंकासे तुम ऐसा कहने लगे हो तो तुम्हारी इस मूँदरीसे शंका दूर करती हूं।

राजा—उदारः कल्पः ।

शकुन्तला—(मुद्रास्थानं परामृश्य) हद्धी । अंगुलीअअसुण्णा मे अंगुली । (इति सविषादं गौतमीमवेक्षते) [हा धिक् । अंगुलीयकशून्या मेऽङ्गुलिः]

गौतमी—णूणं दे सक्कावदारब्भन्तरे सचीतित्थसलिलं वन्दमाणाए पब्भट्टं अंगुलीअअं । [नूनं ते शक्रावताराभ्यन्तरे शचीतीर्थसलिलं वन्दमानायाः प्रभ्रष्टमंगुलीयकम्]

राजा—(सस्मितम्) इदं तत्प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते ।

शकुन्तला—एत्थ दाव विहिणा दंसिदं पहुत्तणं । अवरं दे कँहिस्सं । [अत्र तावद्विधिना दर्शितं प्रभुत्वम् । अपरं ते कथयिष्यामि]

राजा—श्रोतव्यमिदानीं संवृत्तम् ।

शकुन्तला—णं एक्कस्सिं दिअहे णोमालिआमण्डवे णलिणीपत्तभाअणगअं उअअं तुह हत्थे सण्णिहिदं आसि । [नन्वेकस्मिन्दिवसे नवमालिकामण्डपे नलिनीपत्रभाजनगतमुदकं तव हस्ते संनिहितमासीत्]

राजा—यह कल्पना भली करी ।

शकुन्तला—(मूँदरीका स्थान देखकर) हाय २ मेरी अंगुली तौ मूँदरीरहित है ।(यह कहकर व्याकुलतासे गौतमीकी ओर देखती है)

गौतमी—निश्चय शक्रावतारके निकट शचीतीर्थमें प्रणाम करती हुईसे मूँदरी गिर गयी ।

राजा—(मुसकाकर) जो स्त्रियें तुर्त्त बुद्धि कहाती हैं, वे येही हैं ।

शकुन्तला—यहां तौ विधाताने अपना प्रभुत्व दिखाया । औरभी तुम्हें बताती हूं ।

राजा—वोहभी अब तौ सुनाही जायगा ।

शकुन्तला—सुध करो एक दिन चमेलीकी कुंजमें कमलदलके दौनेमें जल भरके तुम्हारे हाथमें दिया था ।

राजा—श्रृणुमस्तावत् ।

शकुन्तला—तक्खणं सो मे पुत्तकिदओ दीहापङ्गो णाम मिअपोदओ उवट्ठिओ। तुए अअं दाव पढमं पिअउ त्ति अणुअम्पिणा उवच्छन्दिदो उअएण। ण उण दे अपरिचआदो हत्थब्भासं उवगदो। पच्छा तस्सिं एव्व मए गहिदे सलिले णेण किदो पणओ तदा तुमं इत्थं पहसिदो सि। सव्वो सगन्धेसु विस्ससिदि। दुवेवि एत्थ आरण्णआ त्ति। [तत्क्षणे स मे पुत्रकृतको दीर्घापाङ्गो नाम मृगपोतक उपास्थितः। त्वयायं तावत्प्रथमं पिबत्वित्यनुकम्पिनोपच्छन्दित उदकेन। न पुनस्तेऽपरिचयाद्धस्ताभ्यासमुपगतः। पश्चात्तस्मिन्नेव मया गृहीते सलिलेऽनेन कृतः प्रणयः। तदा त्वमित्थं प्रहसितोऽसि। सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति। द्वावप्यत्रारण्यकाविति]

राजा—एवमादिभिरात्मकार्यनिर्वर्तिनीनामनृतमयवाङ्मधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः।

गौतमी—महाभाअ, ण अरुहसि एव्वं मन्तिदुं। तवोवणसंवड्ढिदो अणभिण्णो अअं जणो कइदवस्स। [महाभाग, नार्हस्येवं मन्त्रयितुम्। तपोवनसंवर्धितोऽनभिज्ञोऽयं जनः कैतवस्य]

राजा—सब सुन रहा हूं।

शकुन्तला—उसी समय मेरा पाला दीर्घापाङ्ग नामवाला मृगछौना आ गया था तुमने प्यारसे कहा प्रथम यही पियेगा। और उसने अपरिचित होनेके कारण तुम्हारे हाथसे नहीं पिया था। पीछे उसी पत्तेको मैंने लेलिया तो उसने पिया। तब तुम हँसकर यह कहने लगे सब अपनेहीको पतियाते हैं। दोनों तुम इसी वनके वासी हो।

राजा—अपना कार्य साधनेवालियोंकी ऐसी झूठी मीठी बातोंसे तो कामी जन डिगते हैं।

गौतमी—हे महाभाग! ऐसा कहना योग्य नहीं। तपोवनमें पली हुई यह कन्या छलछिद्र क्या जाने?

राजा—तापसवृद्धे,

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु
संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः ।
प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजात-
मन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति ॥ २२ ॥

शकुन्तला—(सरोषम्) अणज्ज, अत्तणो हिअआणुमाणेण पेक्खसि । को दाणिं अण्णो धम्मकंचुअप्पवेसिणो तिणच्छण्णकूवोवमस्स तव अणुकिदिं पडिवदिस्सदि । [अनार्य, आत्मनो हृदयानुमानेन पश्यसि । क इदानीमन्यो धर्मकंचुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते]

राजा—(आत्मगतम्) संदिग्धबुद्धिं मां कुर्वन्नकैतव इवास्याः कोपो लक्ष्यते । तथा ह्यनया

मय्येव विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ
वृत्तं रहः प्रणयमप्रतिपद्यमाने ।
भेदाद्भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य ॥ २३ ॥

राजा—हे वृद्धतपस्विनी !

मनुष्यजातिसे व्यतिरिक्त जातिकी स्त्रियोंमें भी विनाही सिखाये निपुणता देखी जाती है, देखा जाता है कि—कोयल अपने बच्चोंको आकाशमें उडनेकी शक्तिसे प्रथम अन्यान्यपक्षियों [काकों] से पलवाती हैं ॥ २२ ॥

शकुन्तला—(रिसाकर) हे अनार्य ! अपने हृदयकी समान सबको देखता है । और कौन छली तेरी तुल्य घांस फूससे ढके कूँएकी समान धर्मका भेष रखता होगा ।

राजा—(आपही आप) इसका क्रोध मेरी बुद्धिको सन्दिग्ध करता कपटरहित दीखता है । क्योंकि इसने

स्मरण न होनेसे कठिन चित्तवृत्तिवाले एवं एकान्तमें प्रीतिव्यवहारको न स्वीकार करनेवाले मेरे ऊपर क्रोध कर रक्तनेत्रवालीने तिर्छी भृकुटियोंके ऊपर कामदेवका धनुष चढाकर मानो क्रोधसे खण्डित कर दिया ॥ २३ ॥

(प्रकाशम्) भद्रे, प्रथितं दुष्यन्तस्य चरितम् । तथापीदं न लक्षये।

शकुन्तला--सुट्ठु दाव अत्त सच्छन्दचारिणी किदह्मि। जा अहं इमस्स पुरुवंसप्पच्चएण मुहमहुणो हिअअट्ठिअविसस्स हत्थब्भासं उवगदा । (इति पटान्तेन मुखमावृत्य रोदिति) सुष्ठु तावदत्र स्वच्छन्दचारिणी कृतास्मि । याहमस्य पुरुवंशप्रत्ययेन मुखमधोर्हृदयस्थितविषस्य हस्ताभ्याससमुपगता]

शार्ङ्गरवः--इत्थमात्मकृतं परिहतं चापलं दहति ।

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः ।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥ २४ ॥

राजा--अयि भोः, किमत्रभवतीप्रत्ययादेवास्मान्संयुतदोषाक्षरैः क्षिणुथ ।

शार्ङ्गरवः—(सासूयम्) श्रुतं भवद्भिरधरोत्तरम् ।

(प्रगट) हे महाशया ! दुष्यन्तका चरित फैल गया । तथापि यह नहीं जानता ।

शकुन्तला—ठीक है अब मैं स्वच्छन्दचारिणी होगयी । कि जो मैं मुखमें मधु और उदरमें विष भरे इस पुरुवंशीके हाथोंमें आयी । (इस प्रकार अंचलसे मुख आच्छादन करके रोदन करती है)

शार्ङ्गरव—विना विचारे स्वयं करा हुआ कार्य इसी प्रकार भस्म करता है ।

अत एव विशेष परीक्षा करके एकान्तमें मित्रता करनी कर्तव्य है, क्योंकि--हृदयका भाव न जाननेवालोंकी प्रीति इसी प्रकार [शकुन्तला और दुष्यन्तकी प्रीतिकी समान] वैर हो जाती है ॥ २४ ॥

राजा--अजी महाराज ! क्या तुम इस भगवतीके ही विश्वाससे हमें दोषयुक्त वचनोंसे घिनाते हो ?

शार्ङ्गरव--(अवज्ञा करके) क्या तुमने यह उलटा सीधा नहीं सुना ?

---

१ किसी २ पुस्तकमें यह उक्ति पुरोहितकी है ।

आ जन्मनः शाठ्यमशिक्षितो य-
स्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य ।
परातिसंधानमधीयते यै-
र्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ॥ २५ ॥

राजा—भोः सत्यवादिन्, अभ्युपगतं तावदस्माभिरेवम् । किं पुनरिमामतिसंधाय लभ्यते ।

शार्ङ्गरवः—विनिपातः ।

राजा—विनिपातः पौरवैः प्रार्थ्यते इति न श्रद्धेयम् ।

शारद्वतः—शार्ङ्गरव, किमुत्तरेण । अनुष्ठितो गुरोः संदेशः । प्रतिनिवर्तामहे वयम् । (राजानां प्रति)

तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा ।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥ २६ ॥

गौतमि, गच्छाग्रतः ।

(इति प्रास्थिताः)

जो जन्मसे लेकर शठताको नहीं सीखे उन प्राणियोंके वचन अप्रमाण हैं, और जिन्होंने दूसरोंका छलना विद्याकी भांति पढा [सीखा] ह, सुना जाता है कि–वे सत्यवादी हैं ॥ २५ ॥

राजा–हे सत्यवादी ! हमने यहभी मान लिया । परन्तु इसके छलनेसे क्या मिलेगा ।

शार्ङ्गरव—विपत्ति ।

राजा—पुरुवंशी विपत्तिकी प्रार्थना करते हैं यह बात श्रद्धा करनेके अयोग्य है !

शारद्वत—हे शार्ङ्गरव ! इस उत्तर प्रत्युत्तरसे क्या । गुरुजीका सन्देशा निबटा दिया हम अब लौटे चलतेहैं । (राजासे)

राजन् ! अब यह आपकी स्त्री है, इसे त्यागो अथवा ग्रहण करो; क्योंकि स्त्रियोंके ऊपर सब प्रकार [त्यागने, मारने, स्वीकार करने] का अधिकार है ॥ २६ ॥

हे गौतमी ! अगाडी २ चलो ।

(यों कहकर चल दिये)।

शकुन्तला—कहं इमिणा किदवेण विप्पलद्ध ह्मि । तुह्मे वि मं परिच्चअह । (इत्यनुप्रतिष्ठते) [कथमनेन कितवेन विप्रलब्धास्मि । यूयमपि मां परित्यजथ]

गौतमी—(स्थित्वा) वच्छ सङ्गरव, अणुगच्छदि इअं क्खुणो करुणपरिदेविणी सउन्दला । पच्चादेसपरुसे भत्तुणि किं वा मे पुत्तिआ करेदु । [वत्स शार्ङ्गरव, अनुगच्छतीयं खलु नः करुणपरिदेविनी शकुन्तला । प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि कि वा मे पुत्रिका करोतु]

शार्ङ्गरवः—(सरोषं निवृत्य) पुरोभागे, किं स्वातन्त्र्यमवलम्बसे ।

(शकुन्तला भीता वेपते)

शार्ङ्गरवः—शकुन्तले,

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा
त्वमसि किं पितुरुत्कलया त्वया ।
अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः
पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ॥ २७ ॥

शकुन्तला—हाय ! इस छलियाने तौ छल लिया । क्या तुमभी मुझे त्यागे देते हो । (यह कह उनके पीछे जाती है)

गौतमी—(खडी होकर) बेटा शार्ङ्गरव ! शकुन्तला तौ रोती २ यह हमारे पीछे आती है । निर्मोही पतिने तौ त्याग दिया अब मेरी पुत्री क्या करै ।

शार्ङ्गरव—(क्रोध कर लौटके) हे कर्महीन ! क्या स्वतन्त्र हुआ चाहती है ।

(शकुन्तला डरकर थरथराती है)

शार्ङ्गरव—हे शकुन्तला !

यदि तू ऐसी ही है जैसी कि-राजा कहता है तव कुलकी मर्यादा उल्लंघन करनेवाली तुझे पितासे कुछ प्रयोजन नहीं, और यदि तू आत्माको निर्दोष जानती है तौ तुझे पतिके घर दासी बनकर रहनाभी भला है ॥ २७ ॥

तिष्ठ। साधयामो वयम्।

राजा—भोस्तपस्विन्, किमत्रभवतीं विप्रलभसे।

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः॥ २८॥

शार्ङ्गरवः—यदा तु पूर्ववृत्तमन्यसङ्गाद्विस्मृतो भवांस्तदा कथमधर्मभीरुः।

राजा—(पुरोहितं प्रति) भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि।

मूढः स्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्येति संशये।
दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः॥ २९॥

पुरोहितः—(विचार्य) यदि तावदेवं क्रियताम्।

राजा—अनुशास्तु मां भवान्।

पुरोहितः—अत्रभवती तावदा प्रसवादस्मद्गृहे तिष्ठतु। कुत इदमुच्यत इति चेत्। त्वं साधुभिरुद्दिष्टः प्रथममेव चक्रवर्तिनं पुत्रं जनयिष्यसीति। स चेन्मुनिदौहित्रस्तल्लक्षणोपपन्नो भविष्यति अभिनन्द्य शुद्धान्तमेनां प्रवेशयिष्यसि। विपर्यये तु पितुरस्याः समीपनयनमवस्थितमेव।

ठहर। हम जाते हैं।

राजा—हे तपस्वियो! क्यों भगवतीको ठगते हो?

चन्द्रमा बबूलों और सूर्य कमलोंहीको खिलाते हैं, प्रसिद्ध है कि-जितेन्द्रियोंकी मनोवृत्ति परनारियोंके ग्रहण करनेमें उलटी होती है॥२८॥

शार्ङ्गरव–जब कि तुम दूसरीके संगसे अपने प्रथम करेको भूल गये तौ अधर्मसे कैसा भय।

राजा—(पुरोहितसे) मैं तुमहीसे ऊंच नीच पूछता हूं। मैंही मूर्ख [बेसुध] हो गया हूं, अथवा यह स्त्री असत्य भाषण करती है, इस सन्देहमें अपनी स्त्रीका परित्याग करदूं, वा परनारीके ग्रहणसे लम्पट हो जाऊं॥ २९॥

पुरोहित—(विचारकर) यदि यौं है तौ अब यह करो।

राजा—आप मुझे बताइये।

पुरोहित—यह भगवती गर्भमोचनसमयतक मेरे घर रहे। क्योंकि

राजा—यथा गुरुभ्यो रोचते।

पुरोहितः—वत्से, अनुगच्छ माम्।

शकुन्तला—भअवदि वसुहे, देहि मे विवरं। (इति रुदती प्रस्थिता। निष्क्रान्ता सह पुरोधसा तपस्विभिश्च) [भगवति वसुधे, देहि मे विवरम्]

(राजा शापव्यवहितस्मृतिः शकुन्तलागतमेव चिन्तयति)

(नेपथ्ये)

महदाश्चर्यम्।

राजा—(आकर्ण्य) किं नु खलु स्यात्।

(प्रविश्य)

पुरोहितः—(सविस्मयम्) देव, अद्भुतं खलु संवृत्तम्।

राजा—किमिव।

यह कह रक्खा है कि, प्रथमही ज्योतिषियोंने कहा था कि आपके चक्रवर्त्ती पुत्र होगा। यदि वह मुनिकण्वका दौहित्र [धेवता] वैसेही लक्षणयुक्त हो तौ प्रसन्न होकर रनवासमें इसे ले लेना। यदि ऐसा न हो तौ इसे पिताके निकट भेज देना उचित है।

राजा—जो गुरुजीको सुहावै।

पुरोहित—बेटी ! मेरे पीछे २ आ।

शकुन्तला—हे भगवति भूमि ! मुझे विवर दे ! (यौं कह रोती २ चलदी। पुरोहित और तपस्वियोंके साथ निकल गयी)

राजा—(शापके वश भूला हुआ भी शकुन्तलाहीको विचारता है)

(नेपथ्यमें)

बडा आश्चर्य है !

राजा—(सुनकर) क्या हुआ ?

(आयकर)

पुरोहित—(अचम्भा करके) महाराज ! बडा अद्भुत कार्य हुआ।

राजा—क्या हुआ ?

पुरोहितः—देव, परावृत्तेषु कण्वशिष्येषु

सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला
बाहूत्क्षेपं क्रन्दितुं च प्रवृत्ता।

राजा—किं च।

पुरोहितः—

स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारा-
दुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम॥ ३०॥

(सर्वे विस्मयं रूपयन्ति)

राजा—भगवन्, प्रागपि सोऽस्माभिरर्थः प्रत्यादिष्ट एव। किं वृथा तर्केणान्विष्यते। विश्राम्यतु भवान्।

पुरोहितः—(विलोक्य) विजयस्व। (इति निष्क्रान्तः)

राजा—वेत्रवति, पर्याकुलोऽस्मि। शयनभूमिमार्गमादेशय।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो। (इति प्रस्थिता) [इत इतो देवः]

पुरोहित—महराज ! कण्वशिष्योंके लौटनेपर अपने भाग्यकी निन्दा करती वह बाला जभी हाथ पसार रोनेको प्रवृत्त हुई।

राजा—तब क्या हुआ ?

पुरोहित—

तब अप्सरातीर्थके निकट मनोहर ज्योतिरूप इसे उडाकर लेगयी॥ ३०॥

(सब आश्चर्य करते हैं)

राजा—भगवन् ! यह होनहार हमें प्रथमही भास गयी थी। अब तर्कना कर अन्वेषण करना वृथा है। आपभी विश्राम करें।

पुरोहित—(देखकर) जय रहै। (यह कहकर चला गया)

राजा—हे वेत्रवति ! मैं घबडा रहा हूं। तू शयनभूमिका मार्ग बता।

प्रतीहारी—महाराज ! इधर चलो। (यह कहकर चलदी)

राजा—

कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम् ।
बलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मे हृदयम् ॥ ३१ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति पञ्चमोऽङ्कः ।

राजा—

अत्यन्त तिरस्कार करी मुनिकन्या स्त्रीकी सुध नहीं आयी, परन्तु अतिपीडित हुआ हृदय फिर भी विश्वास उत्पन्न करता है ॥ ३१ ॥

(इस प्रकार सब चले गये)

इति पंचम अंक समाप्त.



षष्ठोऽङ्कः ।

प्रवेशकः ।

(ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद्बद्धपुरुषमादाय रक्षिणौ च)

रक्षिणौ—(ताडयित्वा) अले कुम्भीलआ, कहेहि कहिं तुए एशे मणिबन्धणुक्किण्णणामहेए लाअकीलए अङ्गुलीअए शमाशादिए । [अरे कुम्भीरक, कथय कुत्र त्वयैतन्मणिबन्धनोत्कीर्णनामधेयं राजकीयमङ्गुलीयकं समासादितम्]

पुरुषः—(भीतिनाटितकेन) पशीदन्ते भावमिश्शे । हगे ण ईदिशकम्मकाली । [प्रसीदन्तु भावमिश्राः । अहं नेदृशकर्मकारी]

प्रथमः—किं शोहणे ब्रह्मणेत्ति कलिअ रज्ञा पडिग्गहे दिण्णे । [किं शोभनो ब्राह्मण इति कलयित्वा राजा प्रतिग्रहो दत्तः]

पुरुषः—सुणध दाणिं । हगे शक्कावदालब्भन्तलवाशी धीवले । [शृणुतेदानीम् । अहं शक्रावताराभ्यन्तरवासी धीवरः]

द्वितीयः—पाडच्चला, किं अह्मेहिं जादी पुच्छिदा । [पाटच्चर, किमस्माभिर्जातिः पृष्टा]

प्रवेशक ।

(इतनेहीमें राजाका शाला कोतवाल और पीछे बँधे पुरुषको लिये सिपाही आते हैं)

सिपाही—(मारकर) अरे चोर ! नगके स्थानमें नाम खुदी यह राजाकी अँगूठी तुझे कहांसे मिली ।

पुरुष—(डरसे) मान्यवर ! क्षमा करो । मैं ऐसा कार्य कर्त्ता नहीं हूं ।

पहला—क्या राजाने उत्तम ब्राह्मण जानकर दान कर दी थी ?

पुरुष—अब सुनो तौ सही । मैं शक्रावतारग्रामका रहनेवाला धीवर हूं ।

दूसरा—अरे चोर ! क्या हमने जाति पूछी थी ?

श्यालः—सूअअ, कहेदु शव्वं अणुक्कमेण। मा णं अन्तरा पडिबन्धह। [सूचक, कथयतु सर्वमनुक्रमेण। मैनमन्तरे प्रतिवन्धय]

उभौ—जं आवुत्ते आणवेदि। कहेहि। [यदावुत्त आज्ञापयति। कथय]

पुरुषः—अहके जालुग्गालादीहिं मच्छबन्धणोवाएहिं कुडुम्ब-भलणं कलेमि। [अहं जालोद्गालादिभिर्मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्ब-भरणं करोमि]

श्यालः—(विहस्य) विसुद्धो दाणिं आजीवो। [विशुद्ध इदानीमाजीवः]

पुरुषः—

शहजे किल जे विणिन्दिए ण हु दे कम्म विवज्जणीअए।
पशुमालणकम्मदालुणे अणुकम्पामिदुए व्व शोत्तिए ॥ १ ॥
[सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः ॥]

श्यालः—तदो तदो। [ततस्ततः]

कोतवाल—सूचक ! क्रमसे कहने दो। इसे बीचमें मत रोको।

दोनों—जीजाजीकी जो आज्ञा। कह रे।

पुरुष—मैं जालमें फँसे मछलियोंके बन्धनसे कुटुम्बका पोषण करता हूं।

कोतवाल—(हँसकर) जीव भला शुद्ध हुआ।

पुरुष—

जो कार्य सहजही निन्दित हों, उसे त्यागना न चाहिये; जैसे वेद-पाठी यज्ञमें पशु मारनेके दारुण कर्मको दयाही करता है ॥ १ ॥

कोतवाल—फिर क्या हुआ ?

पुरुषः—एक्काशिं दिअशे खण्डशो लोहिअमच्छे मए कप्पिदे जाव। तश्श उदलब्भन्तले एदं लदणभाशुलं अङ्गुलीअअं देक्खिअ पच्छा अहके शे विक्कआअ दंशअन्ते गहिदे भावमिश्शेहिं मालेह वा मुञ्चेह वा। अअं शे आअमवुत्तन्ते। [एकस्मिन्दिवसे खण्डशो रोहितमत्स्यो मया कल्पितो यावत्। तस्योदराभ्यन्तर इदं रत्नभासुरमङ्गुलीयं दृष्ट्वा पश्चादहं तस्य विक्रयाय दर्शयन्गृहीतो भावमिश्रैः। मारयत वा मुञ्चत वा। अयमस्यागमवृत्तान्तः]

श्यालः—जाणुअ, विस्सगन्धी गोहादी मच्छबन्धो एव्व णिस्संसअं। अङ्गुलीअअदंसणं शे विमरिसिदव्वं। राअउलं एव्व गच्छामो। [जानुक, विस्रगन्धी गोधादी मत्स्यबन्ध एव निःसंशयम्। अङ्गुलीयकदर्शनमस्य विमर्शयितव्यम्। राजकुलमेव गच्छामः]

रक्षिणौ—तह। गच्छ अले गण्डभेदअ। [तथा। गच्छ अरे गण्डभेदक]

(सर्वे परिक्रामन्ति)

पुरुष—एक दिन जभी मैंने रोहूमछलीके खण्ड करे तभी उसके उदरमें रत्नसे चमकीली इस अँगूठीको देख उसे बेचनेके लिये दिखाता आपने पकड लिया। मारो चाहो छोडो। यही इसके मिलनेका वृत्तान्त है।

कोतवाल—हे जानुक! मछलियें खानेवालेमें दुर्गन्धी आती है निस्सन्देह मछलीमारही है। इसे अँगूठीका मिलना विचारना चाहिये। राजकुलमेंही चलें।

सिपाही—बहुत अच्छा। अरे चोर! चल।

(सब चलते हैं)।

श्यालः—सूअअ, इमं गोपुरदुआरे अप्पमत्ता पडिवालह जाव इमं अंगुलीअअं जहागमणं भट्टिणो णिवेदिअ तदो सासणं पडिच्छिअ णिक्कमामि। [सूचक, इमं गोपुरद्वारेऽप्रमत्तौ प्रतिपालयतं यावदिदमंगुलीयकं यथागमनं भर्तुर्निवेद्य ततः शासनं प्रतीक्ष्य निष्क्रामामि]

उभौ—पविशदु आवुत्ते शामिपशादश्श । [प्रविशत्वावुत्तः स्वामिप्रसादाय]

(इति निष्क्रान्तः श्यालः)

प्रथमः—जाणुअ, चिलाअदि क्खु आवुत्ते। [जानुक, चिरायते खल्वावुत्तः]

द्वितीयः—णं अवशलोवशप्पणीआ लाआणो। [नन्ववसरोपसर्पणीया राजानः]

प्रथमः—जाणुअ, फुलन्ति मे हत्था इमश्श वहश्श शुमणा पिणद्धुं। (इति पुरुषं निर्दिशति) [जानुक, प्रस्फुरतो मम हस्तावस्य वधार्थं सुमनसः पिनद्धुम्]

पुरुषः—ण अलुहदि भावे अकालणमालणं भाविदुं। [नार्हति भावोऽकारणमारणं भावयितुम्]

कोतवाल—हे सूचक! इसे नगरके द्वारपर सावधानीसे रखना जबतक इस मूँदरीके मिलनेका वृत्तान्त महाराजसे कहकर तहांसे आज्ञा लेके आऊं।

दोनों—भगनीपति महाराजसे कहनेको जाओ।

(इस प्रकार कोतवाल चला गया)

पहला—हे जानुक! कोतवाल विलंब करते हैं।

दूसरा—समयानुकूलही राजाके निकट जाते हैं।

पहला—हे जानुक! मेरे हाथ इस वध्यको पुष्प उढानेको चलते हैं। (यौं कह पुरुषको दिखाता है)

पुरुष—अकारण आप मारनेके योग्य नहीं।

द्वितीयः—(विलोक्य) एशे अह्माणं शामी पत्तहत्थे लाअ-शाशणं पडिच्छिअ इदोमुहे देक्खीअदि । गिद्धबली भविश्शाशि शुणो मुहं वा देक्खिश्शशि । [एष नौ स्वामी पत्रहस्तो राज-शासनं प्रतीक्ष्येतोमुखो दृश्यते । गृध्रबलिर्भविष्यासि, शुनो मुखं वा द्रक्ष्यसि]

(प्रविश्य)

श्यालः—सुअअ, मुञ्चेदु एसो जालोअजीवी । उववण्णो क्खु अंगुलीअअस्स आअमो । [सूचक, मुच्यतामेष जालोपजीवी । उपपन्नः खल्वंगुलीयस्यागमः]

सूचकः—जह आवुत्ते भणादि । [यथावुत्तो भणति]

द्वितीयः—एशे जमशदणं पविशिअ पडिणिवुत्ते । (इति पुरुषं परिमुक्तबन्धनं करोति) [एष यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्तः]

पुरुषः—(श्यालं प्रणम्य) भट्टा, अह कीलिशे मे आजीवे । [भर्तः, अथ कीदृशो म आजीवः]

दूसरा—(देखकर) यह हमारे स्वामी हाथमें पर्माना लिये राजाकी आज्ञा ले इधरहीको मुख करे दीखते हैं । तू गीधोंका भोजन होगा वा श्वानोंका मुख देखेगा ।

(आकर)

कोतवाल —हे सूचक ! इस मच्छीमारको छोड दो मूँदरीका मिलना विदित होगया ।

सूचक—कोतवालकी जो आज्ञा ।

दूसरा—यह यमराजके भवनमें जाकर फिर बगद आया ।

(यह कह पुरुषको बन्धनसे मुक्त करता है)

पुरुष—(कोतवालको प्रणाम करके) स्वामिन् । यह मेरा कार्य कैसा है ?

श्यालः—एसो भट्टिणा अंगुलीअअमुल्लसम्मिदो पसादो वि दाविदो। (इति पुरुषाय स्वं प्रयच्छाति) [एष भर्त्रांगुलीयकमूल्यसंमितः प्रसादोऽपि दापितः]

पुरुषः—(सप्रणामं प्रतिगृह्य) भट्टा, अणुग्गहिद ह्मि। [भर्तः, अनुगृहीतोऽस्मि]

सूचकः—एशे णाम अणुग्गहे जे शूलादो अवदालिअ हत्थिक्कन्धे पडिट्ठाविदे। [एष नामानुग्रहो यच्छूलादवतार्य हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापितः]

जानुकः—आवुत्त, पलिदोशं कहेहि। तेण अङ्गुलीअएण भट्टिणो शम्मदेण होदव्वं। [आवुत्त, परितोषं कथय। तेनाङ्गुलीयकेन भर्तुः संमतेन भवितव्यम्]

श्यालः—ण तस्सिं महारुहं रदणं भट्टिणो बहुमदं त्ति तक्केमि। तस्स दंसणेण भट्टिणो अभिमदो जणो सुमराविदो। मुहुत्तअं पकिदिगम्भीरो वि पज्जुस्सुअणअणो आसि। [न तस्मिन्महार्हं रत्नं भर्तुर्बहुमतमिति तर्कयामि। तस्य दर्शनेन भर्तुरभिमतो जनः स्मारितः। मुहूर्तं प्रकृतिगम्भीरोऽपि पर्युत्सुकनयन आसीत्]

कोतवाल—स्वामीने इस अंगूठीका मूल्य तुझे उपहारमें दिया है। (यह कह पुरुषको धन देता है)

पुरुष—(प्रणामपूर्वक लेकर) स्वामिन्! मेरे ऊपर बडी कृपा करी।

सूचक—यह नामकी कृपा है जो शूलीसे उतारके हाथीके ऊपर चढा दिया।

जानुक—कोतवाल! उपहार तो बताओ। वह अँगूठी महाराजको प्यारी होगी।

कोतवाल—मैं समझता हूं उसमें स्वामीका प्यारा बहुमूल्य रत्न नहीं है। उसके देखनेसे किसी प्यारे जनकी सुध आई है। स्वभावसे गम्भीर भी था क्षणेक नेत्र उत्कण्ठित होगये।

सूचकः—शेविदं णाम आवुत्तेण। [सेवितं नामावुत्तेन]

जानुकः—णं भणाहि । इमश्श कए मच्छिआभत्तुणो त्ति। (इति पुरुषमसूयया पश्यति) [ननु भण । अस्य कृते मात्स्यिकभर्तुरिति]

पुरुषः—भट्टालक, इदो अद्धं तुह्माणं शुमणोमुल्लं होदु। [भट्टारक, इतोऽर्धं युष्माकं सुमनोमूल्यं भवतु]

जानुकः—एत्तके जुज्जइ। [एतावद्युज्यते]

श्यालः—धीवर, महत्तरो तुमं पिअवअस्सओ दाणिं मे संवुत्तो। कादम्बरीसक्खिअं अह्माणं पढमसोहिदं इच्छीअदि। ता सोण्डिआपणं एव्व गच्छामो। [धीवर, महत्तरस्त्वं प्रियवयस्यक इदानीं मे संवृत्तः। कादम्बरीसखित्वमस्माकं प्रथमशोभितमिष्यते। तच्छौण्डिकापणमेव गच्छामः]

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति प्रवेशकः।

सूचक—सेवा आपहीने दिखाई।

जानुक—यौं कहो। इस धीवरराजके लिये सेवा करी। (यह कह कर पुरुषको असूयासे देखता है।

पुरुष—उससे आधा तुम्हारे फूलका मोल हो जायगा।

जानुक—ऐसाही उचित है।

कोतवाल—हे धीवर! अब तू मेरा अधिक मित्र हो गया। मदिराके विना मैत्री हमारी अशुभसी दीखती है। चलो कलालकी दुकानहीको चलें।

(यौं कहकर सब चले गये)

इति प्रवेशक।

(ततः प्रविशत्याकाशयानेन सानुमती नामाप्सराः)

सानुमती—णिव्वट्टिदं मए पज्जाअणिव्वत्तणिज्जं अच्छरातित्थसण्णिज्झं जाव साहुजणस्स अभिसेअकालो त्ति। संपदं इमस्स राएसिणो उदन्तं पच्चक्खीकरिस्सं। मेणआसंबन्धेण सरीरभूदा मे सउन्दला। ताए अ दुहिदुणिमित्तं आदिट्ठपुव्वह्मि। (समन्तादवलोक्य) किं णु क्खु उदुच्छवे वि णिरुच्छवारम्भं विअ राअउलं दीसइ। अत्थि मे विहवो पणिधाणेण सव्व परीण्णादुं। किंदु सहीए आदरो मए माणइदव्वो। होदु। इमाणं एव्व उज्जाणपालिआणं तिरक्खरिणीपडिच्छण्णा पस्सवत्तिणी भविअ उवलहिस्सं। (इति नाट्येनावतीर्य स्थिता) [निर्वर्तितं मया पर्यायनिर्वर्तनीयमप्सरस्तीर्थसांनिध्यं यावत्साधुजनस्याभिषेककाल इति। सांप्रतमस्य राजर्षेरुदन्तं प्रत्यक्षीकरिष्यामि। मेनकासंबन्धेन शरीरभूता मे शकुन्तला। तया च दुहितृनिमित्तमादिष्टपूर्वास्मि। किं नु खलु ऋतूत्सवेऽपि निरुत्सवारम्भमिव राजकुलं दृश्यते। अस्ति मे विभवः प्रणिधानेन सर्वं परिज्ञातुम्। किं तु सख्या आदरो मया मानयितव्यः। भवतु। अनयोरेवोद्यानपालिकयोस्तिरस्कारिणीप्रतिच्छन्ना पार्श्ववर्तिनी भूत्वोपलप्स्ये]

(इतनेहीमें विमानद्वारा सानुमती अप्सरा आती है)

सानुमती—जबतक साधुजनोंके स्नान करनेका समय था तबतक हमको तीर्थके निकट बारी २ फिर जाना पडता था इससे तौ मैं निबट गयी। अब इस राजऋषिका वृत्तान्त अवगत करूं। मेनकाके सम्बन्धसे शकुन्तला तौ मेरा शरीर हो गयी है। और उसीने मुझे बेटीके कार्यके निमित्त प्रथम आज्ञा दी थी। (चारों ओर देखकर) ऋतुके उत्सवसमय भी राजभवनोंमें उदासीसी क्यों दीखती है। मेरे पास गुप्त रहकर देखनेकी विद्या तौ है। किन्तु सखीकी आज्ञा माननी चाहिये जो हो। इन्हीं दोनों उद्यान रखवालियोंके निकट अपनी मायाके बलसे गुप्त बैठकर देखूंगी। (थिरकतीसी उतरकर बैठती है)

(ततः प्रविशति चूतांकुरमवलोकयंती चेटी । अपरा च पृष्ठतस्तस्याः)

प्रथमा—

आतम्महरिअपण्डुर जीविद सत्तं वसन्तमासस्स ।
दिट्ठो सि चूदकोरअ उदुमङ्गल तुमं पसाएमि ॥ २ ॥
[आताम्रहरितपाण्डुर जीवित सत्यं वसन्तमासयोः ।
दृष्टोऽसि चूतकोरक ऋतुमङ्गल त्वां प्रसादयामि ॥]

द्वितीया—परहुदिए, किं एआइणी मन्तेसि। [परभृतिके, किमेकाकिनी मन्त्रयसे]

प्रथमा—महुअरिए, चूदकलिअं देक्खिअ उम्मत्तिआ परहुदिआ होदि । [मधुकरिके, चूतकलिकां दृष्ट्वोन्मत्ता परभृतिका भवति]

द्वितीया—(सहर्षं त्वरयोपगम्य) कहं उवट्ठिदो महुमासो । [कथमुपास्थितो मधुमासः]

प्रथमा—महुअरिए, तव दाणिं कालो एसो मदविब्भमगीदाणं। [मधुकरिके, तवेदानीं काल एष मदविभ्रमगीतानाम्]

द्वितीया—सहि, अवलम्ब मं जाव अग्गपादट्ठिआ भविअ चूदकालिअं गेण्हिअ कामदेवच्चणं करेमि । [सखि, अवलम्बस्व मां यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकालिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि]

(इतनेहीमें आमके मौरको निहारती चेरी आती है और दूसरी उसके पीछे है)

पहली--हे लाल हरी और पीली ! तू वसन्तऋतुके महीनोंकी सत्य जीवन है, हे आमकी मंजरी ! प्रथम तुझे ही देखा है, हे ऋतुकी शोभा बढानेवाली ! तुझे मनाती हूं ॥ २ ॥

दूसरी—हे कोकिला ! तू अकेली क्या कह रही है।

पहली—हे मधुकरि [भ्रमरी !] आमके मौरको देख कोकिला उन्मत्त हो जाती है।

दूसरी--(प्रसन्नतासे निकट जाकर) क्या वसन्तऋतु आगयी ?

पहली—हे भौंरी ! हां तेरे मदमाते गीत गानेका यही समय है।

दूसरी--हे सखि ! मुझे उचका तो सही अब मैं पैरोंके पंजोंसे खडी होकर आमकी मंजरी लेके कामदेवका पूजन करूंगी ।

प्रथमा—जइ मम वि क्खु अद्धं अच्चणफलस्स। [यदि ममापि खल्वर्धमर्चनफलस्य]

द्वितीया—अकहिदे वि एदं संपज्जइ जदो एक्कं एव्व णो जीविदं दुधाट्ठिदं सरीरं। (सखीमवलम्ब्य स्थिता चूतांकुरं गृह्णाति) अए अप्पडिबुद्धो वि चूदप्पसवो एत्थ बन्धणभङ्गसुरभी होदि। (इति कपोतहस्तकं कृत्वा) [अकथितेऽप्येतत्संपद्यते यत एकमेव नौ जीवितं द्विधास्थितं शरीरम्। अये, अप्रतिबुद्धोऽपि चूतप्रसवोऽत्र बन्धनभङ्गसुरभिर्भवति]

तुमं सि मए चूदङ्कुर दिण्णो कामस्स गहीदधणुअस्स।
पहिअजणजुवइलक्खो पञ्चब्भहिओ सरो होहि ॥ ३ ॥
[त्वमासि मया चूताङ्कुर दत्तः कामाय गृहीतधनुषे।
पथिकजनयुवतिलक्ष्यः पञ्चाभ्याधिकः शरो भव ॥]

(इति चूतांकुरं क्षिपति)

पहली—यदि पूजनका भी आधा फल मिले तौ।

दूसरी—विना कहे भी यह तौ होताही, क्योंकि मेरा तेरा एक प्राण दो देह हैं। (सखीके सहारेसे खडी हो आमकी मंजरी लेती है) अये हये ! आमकी कलियें विना खिली भी जहांसे टूटी हैं तहां कैसी सुहावनी सुगन्ध देती हैं। (इस प्रकार अंजलीमें लेकर)

हे आमकी मंजरी ! मैं तुझे तुरन्त धनुष लिये कामदेवके अर्पण करती हूं, तू पांचों [1]बाणोंमें अधिक बटोहियोंकी स्त्रियोंके हृदयकी वेधक होना ॥ ३ ॥

(यह कहकर आमका मौर चढाती है)

---

१ श्रीमहेश्वरभट्टने यह पांच बाण लिखे हैं—"अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका। नीलोत्पलं च पंचैते पंचबाणस्य सायकाः ॥" वा—"उन्मादनस्तापनश्च शोषणः स्तम्भनस्तथा। संमोहनश्च कामस्य पंच बाणाः प्रकीर्त्तिताः ॥" भरतमुनिने पंच बाण यह लिखे हैं — हर्षण १, प्रहसन २, मोहन ३, मूर्छन ४, विकर्षण ५, किन्ही महाशयने—अरविन्द १, अशोक २, सरस ३, आमका मौल ४, उत्पल [नीलकमल] ५. और किन्ही ग्रन्थकारने—चंपक १, आमकी मंजरी २, नागकेशर ३, केतकी ४, वेल ५ यह पंच बाण कहे हैं और गीतगोविन्दमें इनके बन्धूक १, मधूक २, उत्पल३,

(प्रविश्यापटीक्षेपेण कुपितः)

कंचुकी—मा तावत्। अनात्मज्ञे, देवेन प्रतिषिद्धे वसन्तोत्सवे त्वमाम्रकलिकाभङ्गं किमारभसे।

उभे—(भीते) पसीददु अज्जो। अग्गहीदत्थाओ वअं। [प्रसीदत्वार्यः। अगृहीतार्थे आवाम्]

कंचुकी—न किल श्रुतं युवाभ्यां यद्वासन्तिकैस्तरुभिरपि देवस्य शासनं प्रमाणीकृतं तदाश्रयिभिः पत्रिभिश्च। तथाहि।

चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका बध्नाति न स्वं रजः
संनद्धं यदपि स्थितं कुरवकं तत्कोरकावस्थया।
कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं
शङ्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम्॥ ४॥

(आयकर रिसाया हुआ)

कञ्चुकी—अब ऐसा नहीं। अरी बावलियो! महाराजने वसन्तोत्सवका निषेध भी कर दिया है तौ तू आमकी कलियें क्यों तोडती है?

दोनों—(डरतीसी) आर्य! प्रसन्न होओ। हम दोनोंको कुछ विदित नहीं था।

कंचुकी—क्या तुमने नहीं सुना? जो वसन्तके वृक्षों और उनके ऊपर वसनेवाले पक्षियोंने भी महाराजकी आज्ञाका प्रमाण करा है। इसीसे तौ।

आमकी मंजरी चिरकालसे लगी हुईभी अपनी पराग प्रकट नहीं करती, यद्यपि कुरवकका वृक्ष कलियाय तौ रहा है परन्तु फूला नहीं,

---

तिल ४, कुन्द ५ यह नाम लिखे हैं. हृदयरामकवीश्वरने इनका इस प्रकार नाम लिया है—

मोहन तापन वशकरन, उन्मादन उच्चाट।
पांच बाण कुसुमेषुके, विरहिन तन गये काट॥

कामदेव अतनु, उसका धनुष गन्नेका, प्रत्यंचा भ्रमरपंक्तिकी है। (यह राजा लक्ष्मण सिंहजीने लिखा है), पुष्पधन्वानामसे फूलोंका भी धनुष प्रगट है।

उभे--णत्थि संदेहो। महाप्पहाओ राएसी। [नास्ति संदेहः महाप्रभावो राजर्षिः]

प्रथमा---अज्ज, कति दिअहाइं अह्माणं मित्तावसुणा रट्ठिएण भट्टिणीपाअमूलं पेसिदाणं। इत्थं अ णो पमदवणस्स पालणकम्मसमप्पिदं। ता आअन्तुअदाए अस्सुदपुव्वो अह्मेहिं एसो वुत्तन्तो। [आर्य, कति दिवसान्यावयोर्मित्रावसुना राष्ट्रियेण भट्टिनीपादमूलं प्रेषितयोः। इत्थं च नौ प्रमदवनस्य पालनकर्म समर्पितम्। तदागन्तुकतयाश्रुतपूर्व आवाभ्यामेष वृत्तान्तः]

कंचुकी—भवतु। न पुनरेवं प्रवर्तितव्यम्।

उभे—अज्ज, कोदूहलं णो। जइ इमिणा जणेण सोदव्वं कहेदु अअं किंणिमित्तं भट्टिणा वसन्तुस्सवो पडिसिद्धो। [आर्य, कौतूहलं नौ। यद्यनेन जनेन श्रोतव्यं कथयत्वयं किंनिमित्तं भर्त्रा वसन्तोत्सवः प्रतिषिद्धः]

शिशिरऋतु बीतभी गयी तथापि कोकिलाओंके कण्ठसे शब्द नहीं निकलता, मुझे शंका है कि—कामदेवने भी शंकित होकर तूण [तर्कस] मेंसे आधा निकाला हुआ बाण फिर रख लिया ॥ ४ ॥

दोनों—इसमें सन्देह नहीं। यह राजर्षि महाप्रतापी है।

पहली--हे आर्य ! थोडेही दिन हुए राजाके साले मित्रावसुने हम दोनोंको महाराणीके चरणोंमें भेजा था। और इस प्रकार प्रमदवनके पालनेका कार्य सौंप दिया गया। अतः नवीन आनेके कारण हमने यह वृत्तान्त प्रथम नहीं सुना था।

कंचुकी—जो हुआ। फिर ऐसा मत करना।

दोनों—हे आर्य ! हम दोनोंको बडी लालसा है। यदि यह जन सुननेके योग्य हो तौ बताओ किसलिये महाराजने वसन्तोत्सवका निषेध किया है।

सानुमती—(स्वगतम्) उस्सवप्पिआ क्खु मणुस्सा। गरुणा कारणेण होदव्वं। [उत्सवप्रियाः खलु मनुष्याः। गुरुणा कारणेन भवितव्यम्]

कंचुकी—बहुलीभूतमेतात्किं न कथ्यते। किमत्रभवत्योः कर्णपथं नायातं शकुन्तलाप्रत्यादेशकौलीनम्।

उभे—सुदं रट्ठिअमुहादो जाव अङ्गुलीअअदंसणं। [श्रुतं राष्ट्रियमुखाद्यावदङ्गुलीयकदर्शनम्]

कंचुकी—(आत्मगतम्) तेन ह्यल्पं कथयितव्यम्। (प्रकाशम्) यदैव खलु स्वाङ्गुलीयकदर्शनादनुस्मृतं देवेन सत्यमूढपूर्वा मे तत्रभवती रहसि शकुन्तला मोहात्प्रत्यादिष्टेति तदाप्रभृत्येव पश्चात्तापमुपगतो देवः। तथाहि।

रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते
शय्याप्रान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः।
दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा
गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम् ॥ ५ ॥

सानुमती—(आपही आप) मनुष्योंको तौ निश्चय उत्सव प्रिय होते हैं। इसमें कोई बडा कारण होगा।

कंचुकी—(आपही आप) यह तौ प्रसिद्ध बात है तौ क्यों न कहूं। (प्रगट) क्या शकुन्तलाके तिरस्कारकी चर्चा तुम्हारे कानोंपर्यन्त नहीं पहुँची।

दोनों—हां अँगूठी मिलनेपर्यन्तका वृत्तान्त राजाके सालेहीके मुखसे सुना है।

कंचुकी—तौ अब थोडाही कहना रहा है। जबही अपनी अँगूठी देखनेसे महाराजको सुध आयी कि—श्रीमती शकुन्तलासे मैंने एकान्तमें विवाह करा था और अज्ञानसे तिरस्कार करादिया, उसी समयसे स्वामी पश्चात्तापको प्राप्त हो गये हैं। इसीसे तौ।

मनोहर वस्तुओंसे द्वेष करता है, और पहिलेकी भाँति मन्त्रियों द्वारा सेवन नहीं किया जाता, सेजोंके आस पास लेटकर जागता २ ही

सानुमती—पिअं मे। [प्रियं मे]

कंचुकी—अस्मात्प्रभवतो वैमनस्यादुत्सवः प्रत्याख्यातः।

उभे—जुज्जइ। [युज्यते]

(नेपथ्ये)

एदु एदु भवं। [एतु एतु भवान्]

कंचुकी—(कर्णं दत्त्वा।) अये, इत एवाभिवर्तते देवः स्वकर्मानुष्ठीयताम्।

उभे—तह। (इति निष्क्रान्ते) [तथा]

(ततः प्रविशति पश्चात्तापसदृशवेषो राजा विदूषकः प्रतीहारी च)

कंचुकी—(राजानमवलोक्य) अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्। एवमुत्सुकोऽपि प्रियदर्शनो देवः। तथाहि।

रात्रियें बिता देता है, और जब महारानियोंसे आवश्यकताके समय उचित बात कहता है तब नाम लेते समय और [शकुन्तला] नाम बोल देता है तौ लज्जासे चिरकालतक आश्चर्ययुक्त हो जाता है॥ ५॥

सानुमती—यह तौ मुझे प्यारी लगी।

कंचुकी—इसी उत्पातके कारण वैमनस्यसे वसन्तोत्सवका निषेध कर दिया है।

दोनों—उचितही था।

(नेपथ्यमें)

आइये आप आइये।

कंचुकी—(कान लगाकर) अये! महाराज इधरही आते हैं। अपना २ कार्य करो।

दोनों—बहुत अच्छा (यों कहकर चली गयीं)

(तदनंतर विलापियोंका वेषधारी राजा विदूषक और प्रतीहारी आते हैं)

कंचुकी—(राजाको देखकर) आहा! तेजस्वी सभी अवस्थाओंमें सुंदर लगते हैं। इसीसे तौ।

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठार्पितं
बिभ्रत्काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः।
चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ॥ ६ ॥

सानुमती—(राजानं दृष्ट्वा) ठाणे क्खु पच्चादेसविमाणिदा वि इमस्स किदे सउन्दला किलम्मदि त्ति। [स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानिताप्यस्य कृते शकुन्तला क्लाम्यतीति]

राजा—(ध्यानमन्दं परिक्रम्य)

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम्।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं संप्रति विबुद्धम् ॥ ७ ॥

सानुमती—णं ईदिसाणि तवस्सिणीए भाअहेआणि। [नन्वीदृशानि तपस्विन्या भागधेयानि]

विदूषकः—(अपवार्य) लंघिदो एसो भूओ वि सउन्दलावाहिणा। ण आणे कहं चिकिच्छिदव्वो भविस्सदि त्ति। [लंघित एष भूयोऽपि शकुन्तलाव्याधिना। न जाने कथं चिकित्सितव्यो भविष्यतीति]

विशेष आभूषणोंको त्यागकर बायें हाथमें सुवर्णका एक कङ्कणही धारण कर रक्खा है, श्वासोंसे अधर फीके पड गये हैं, चिंताके कारण जागनेसे नेत्र लाल हो रहे हैं, तथापि अपने तेजके गुणोंसे शानपर चढे हीरेकी समान क्षीण हुए भी नहीं जाने जाते ॥ ६ ॥

सानुमती—(राजाकी ओर देखकर) अपना अनादर हुए पर भी शकुंतला इसके लिये व्यथित हो रही है यह इसी योग्य है।

राजा—(चिंतामें सोचता हुआ घूमकर)

प्रथम तौ मृगनैनी प्यारीके जगानेपर भी मेरा मन सोताही रहा, अब यह हतभाग हृदय दुःख सहनेके लिये अब जागा है ॥ ७ ॥

सानुमती—उस तपस्विनीके ऐसे भाग हैं।

विदूषक—(हटाकर) शकुन्तलारूप व्याधिने इसे फिर आ घेरा। न जाने किस प्रकार सीधा होगा।

कंचुकी—(उपगम्य) जयतु जयतु देवः। महाराज, प्रत्यवेक्षिताः प्रमदवनभूमयः। यथाकाममध्यास्तां विनोदस्थानानि महाराजः।

राजा—वेत्रवति, मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि। चिरप्रबोधनान्न संभावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्। यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामिति।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि। (इति निष्क्रान्ता) [यद्देव आज्ञापयति]

राजा—वातायन, त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु।

कंचुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रान्तः)

विदूषकः—किदं भवदा णिम्मच्छिअं। संपदं सिसिरातवच्छेअरमणीए इमस्सिं पमदवणुद्देसे अत्ताणं रमइस्ससि। [कृतं भवता निर्मक्षिकम्। सांप्रतं शिशिरातपच्छेदरमणीयेऽस्मिन्प्रमदवनोद्देश आत्मानं रमयिष्यसि]

राजा—वयस्य, रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्था इति यदुच्यते तदव्यभिचारि वचः। कुतः।

कंचुकी—(निकट जाकर) जय हो महाराजकी जय हो। महाराज! प्रमदवनकी भूमियें [क्यारियें] देख लीं। यथारुचि महाराज आनन्दके स्थानमें बैठिये।

राजा—हे प्रतीहारी! हमारी ओरसे पिशुन मन्त्रीसे कह दे कि-बहुत जागनेसे हम धर्मासनके ऊपर स्थित होनेको असमर्थ हैं। अतः जो कुछ आपको नगरकार्य देखना है वह यहाँही लिखकर भेज दो।

प्रतीहारी—महाराजकी जो आज्ञा। (यह कहकर चली गयी)

राजा—हे वातायन! तूभी अपने कामपर उपस्थित रह।

कंचुकी—महाराजकी जो आज्ञा। (यों कहकर चला गया)

विदूषक—तुमने खूब निर्मक्षिक [निर्मल] कर दिया। अब शीत और घाम दूर करनेवाले सुन्दर इस प्रमदवनमें मन बहलाओ।

राजा—हे मित्र! विपत्ति छिद्र देखती है यह जो कहा जाता है यह कहावत बहुत सत्य है। क्योंकि।

मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना
　　मम च मुक्तमिदं तमसा मनः ।
मनसिजेन सखे प्रहरिष्यता
　　धनुषि चूतशरश्च निवेशितः ॥ ८ ॥

विदूषकः—चिट्ठ दाव । इमिणा दण्डकट्ठेण कन्दप्पवाहिं णासेस्सं । (इति दण्डकाष्ठमुद्यम्य चूतांकुरं पातयितुमिच्छति) [तिष्ठ तावत् । अनेन दण्डकाष्ठेन कन्दर्पव्याधिं नाशयिष्यामि]

राजा—(सस्मितम्) भवतु । दृष्टं ब्रह्मवर्चसम् । सखे, क्वोपविष्टः प्रियायाः किंचिदनुकारिणीषु लतासु दृष्टिं विलोभयामि ।

विदूषकः—णं आसण्णपरिआरिआ चदुरिआ भवदा संदिट्ठा । माहवीमण्डवे इमं वेलं अदिवाहिस्सं । तहिं मे चित्तफलअगदं सहत्थलिहिदं तत्तहोदीए सउन्दलाए पडिकिदिं आणेहि त्ति । [नन्वासन्नपरिचारिका चतुरिका भवता संदिष्टा । माधवीमण्डप इमां वेलामतिवाहयिष्ये । तत्र मे चित्रफलकगतां स्वहस्तलिखितां तत्रभवत्याः शकुन्तलायाः प्रतिकृतिमानयेति]

राजा—ईदृशं हृदयविनोदस्थानम् । तत्तमेव मार्गमादेशय ।

मुनिकन्या शकुन्तलाके प्रेमकी सुध रोकनेवाले अज्ञानने मेरे मनको छोडा ही था कि–हे मित्र ! प्रहार करनेवाले कामदेवने धनुषके ऊपर आमके मौरका बाण चढा लिया ॥ ८ ॥

विदूषक––नैक ठैरो । इस लाठीसे कामकी व्याधिका नाश करे देता हूं । (यों कहकर लाठी उठाके आमका मौर गिराना चाहता है)

राजा––(मुसकाकर) हां हां । तेरा ब्रह्मतेज देख लिया । हे मित्र ! कहां बैठकर प्यारीकी अनुहारवाली लताओंको देख नेत्र जुडाऊं ?

विदूषक––क्या तुमने चतुरिकासे कह दिया है कि इस समय मैं माधवीलताके मण्डपमें बैठूंगा । तहांही चित्रपट्टीमें अर्पित मेरे हाथके लिखे माननीया शकुन्तलाका चित्र लेआना ।

राजा––ऐसा हृदयके विनोदका स्थान है तौ उसीका मार्ग बता ।

विदूषकः—इदो इदो भवं। [इत इतो भवान्]

(उभौ परिक्रामतः। सानुमत्यनुगच्छति)

विदूषकः—एसो मणिसिलापट्टअसणाहो माहवीमण्डवो उवहाररमणिज्जदाए णिस्संअअं साअदेण विअ णो पडिच्छदि। ता पविसिअ णिसीददु भवं। [एष मणिशिलापट्टकसनाथो माधवीमण्डप उपहाररमणीयतया निःसंशयं स्वागतेनेव नौ प्रतीच्छति। तत्प्रविश्य निषीदतु भवान्]

(उभौ प्रवेशं कृत्वोपविष्टौ)

सानुमती—लदासंस्सिदा देक्खिस्सं दाव सहीए पडिकिदिं। तदो से भत्तुणो बहुमुहं अणुराअं णिवेदइस्सं। (इति तथा कृत्वा स्थिता) [लतासंश्रिता द्रक्ष्यामि तावत्सख्याः प्रतिकृतिम्। ततोऽस्या भर्तुर्बहुमुखमनुरागं निवेदयिष्यामि]

राजा—सखे, सर्वमिदानीं स्मरामि शकुन्तलायाः प्रथमवृत्तान्तम्। कथितवानस्मि भवते च। स भवान्प्रत्यादेशवेलायां मत्समीपगतो नासीत्। पूर्वमपि न त्वया कदाचित्संकीर्तितं तत्रभवत्या नाम। कच्चिदहमिव विस्मृतवानसि त्वम्।

विदूषक—इधर आओ इधर।

(दोनों जाते हैं। सानुमती पीछे २ जाती है)

विदूषक—यही मणिजटित शिलासे युक्त माधवीकुंज है उपहारकी रमणीयतासे निःसन्देह आदरके लिये समान् हम दोनोंको निहारती है। अब चलकर आप बैठें।

(दोनों जाकर बैठते हैं)

सानुमती—मैंभी लताकी आडमें बैठकर सखीका चित्र देखूं। तदनन्तर पतिका बहुतसा अनुराग इससे कहूंगी। (यह कहकर उसी प्रकार बैठ गयी)

राजा—हे मित्र! अब शकुन्तलाके सम्पूर्ण वृत्तान्तका स्मरण करता हूं। और मैंने तुझसेभी कहा था। परन्तु तिरस्कार करनेके समय तू मेरे निकट नहीं था। और पहिलेभी तूने उसका नाम नहीं लिया। क्या तूभी मेरीही भाँति भूल गया था?

विदूषकः—ण विसुमरामि। किंतु सव्वं कहिअ अवसाणे उण तुए परिहासविअप्पओ एसो ण भूदत्थो त्ति आचक्खिदं। मए वि मिप्पिण्डबुद्धिणा तह एव्व गहीदं। अहवा भविदव्वदा क्खु बलवदी। [न विस्मरामि। किंतु सर्वं कथयित्वावसाने पुनस्त्वया परिहासविजल्प एष न भूतार्थ इत्याख्यातम्। मयापि मृत्पिण्ड-बुद्धिना तथैव गृहीतम्। अथवा भवितव्यता खलु बलवती]

सानुमती—(आत्मगतम्) एव्वं णेदं। [एवमेवैतत्]

राजा—(ध्यात्वा) सखे, त्रायस्व माम्।

विदूषकः—भो, किं एदं। अणुववण्णं क्खु ईदिसं तुइ। कदा वि सप्पुरिसा सोअवत्तव्वा ण होन्ति। णं पवादे वि णिक्कम्पा गिरीओ। [भोः, किमेतत्। अनुपपन्नं खल्वीदृशं त्वयि। कदापि सत्पुरुषाः शोकवक्तव्या न भवन्ति। ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः]

राजा—वयस्य, निराकरणविक्लवायाः प्रियायाः समवस्थाम-नुस्मृत्य बलवदशरणोऽस्मि। सा हि

विदूषक—मैं नहीं भूला था। परन्तु जब तुम सब कुछ कह चुकेथे तब पीछेसे यहभी कहा था कि–यह हँसीके लिये कहा है यह वृत्तान्त सत्य नहीं। और मुझ गोबरगणेशनेभी वैसेही मान लिया। अथवा होनहार निश्चय बलवान् होती है।

सानुमती—(आपही आप) यह ठीक कहा।

राजा—(ध्यान करके) हे मित्र ! मुझे बचा।

विदूषक—अजी ! यह क्या हुआ ? तुम्हें ऐसा होना अनुचित है। सज्जन जन कभी भी शोकसे अधीर नहीं होते। देखो पर्वत आंधीमें भी अडोल रहते हैं।

राजा—हे मित्र ! त्याग करनेसे व्याकुल हुई प्यारीकी दशाकी सुध कर मैं अतिव्याकुल हुआ जाता हूं। देखो वोह।

इतः प्रत्यादेशात्स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
मुहुस्तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे।
पुनर्दृष्टिं बाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं दहति माम् ॥ ९ ॥

सानुमती—अम्महे। ईदिसी सकज्जपरदा। इमस्स संदावेण अहं रमामि। [अहो। ईदृशी स्वकार्यपरता। अस्य संतापेनाहं रमे]

विदूषकः—भो, अत्थि मे तक्को। केण वि तत्तहोदी आआसचारिणा णीदे त्ति। [भोः, अस्ति मे तर्कः। केनापि तत्रभवत्याकाशचारिणा नीतेति]

राजा—कः पतिदेवतामन्यः परामर्ष्टुमुत्सहेत। मेनका किल संख्यास्ते जन्मप्रतिष्ठेति श्रुतवानस्मि। तत्सहचारिणीभिः सखी ते हृतेति मे हृदयमाशङ्कते।

सानुमती—संमोहो क्खु विह्मअणिज्जो ण पडिबोहो। [संमोहः खलु विस्मयनीयो न प्रतिबोधः]

मेरे निकाल देनेसे स्वजनोंके साथ चलने लगी, तौ पिताकी समान गुरुके शिष्योंने वारम्वार घुडककर कहा कि तू यहांही रह। तब आंसुओंके कणकोंसे भरी हुई दृष्टिको मेरे ऊपर गिराया वह मुझे विषके बुझे भालके समान वेधती है ॥ ९ ॥

सानुमती—आहा ! स्वार्थकी प्रबलता। इसके सन्तापसेभी मैं प्रसन्न होती हूं।

विदूषक—अजी! मुझे तौ यह तर्कना है कि—उसे आकाशचारी देवता ले गया।

राजा—उस पतिव्रताको और कौन स्पर्श करनेका भी साहस कर सक्ता है। सुना है कि—मेनका अप्सरासे उसकी उत्पत्ति है उसकी सखियोंनेही उसे हरा है ऐसी मेरे हृदयमें शंका है।

सानुमती—सुध न आना आश्चर्य था न कि सुध आ जाना।

विदूषकः—जइ एव्वं अत्थि क्खु समाअमो कालेण तत्तहोदीए। [यद्येवमस्ति खलु समागमः कालेन तत्रभवत्या]

राजा—कथमिव।

विदूषकः—ण क्खु मादापिदरा भत्तुविओअदुक्खिअं दुहिदरं देक्खिदुं पारेन्ति। [न खलु मातापितरौ भर्तृवियोगदुःखितां दुहितरं द्रष्टुं पारयतः]

राजा—वयस्य,

स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु क्लिष्टं नु तावत्फलमेव पुण्यम्।
असंनिवृत्त्यै तदतीतमेते मनोरथा नाम तटप्रपाताः॥ १०॥

विदूषकः—मा एव्वं। णं अंगुलीअअं एव्व णिदंसणं अवस्संभावी अचिन्तणिज्जो समाअमो होदि त्ति। [मैवम्। नन्वङ्गुलीयकमेव निदर्शनमवश्यंभाव्यचिन्तनीयः समागमो भवतीति]

राजा—(अंगुलीयकं विलोक्य) अये, इदं तावदसुलभस्थानभ्रंशि शोचनीयम्।

विदूषक—यदि यह है तौ थोडेही समयमें समागम हो जायगा।

राजा—यह कैसे?

विदूषक—माता पिता अपनी कन्याको पतिके वियोगमें चिरकालतक दुःखी नहीं देख सक्ते।

राजा—हे मित्र!

क्या यह स्वप्न था? अथवा मायाजाल था? वा कोई मतिका भ्रम था? किंवा पुण्योंका स्वल्प फल था कि–उत्पन्न होतेही तुरन्त मिट गये यह मनोरथ नदीके तीरोंकी समान कटाववाले हैं॥ १०॥

विदूषक—ऐसा मत कहो। देखो इसका अँगूठीही दृष्टान्त है होनहारका समागम अवश्य होता है इसकी चिन्ता करनी न चाहिये।

राजा—(अंगूठीको देखकर) हाय! यह अभागी भी दुर्लभ स्थानसे गिरी है।

तव सुचरितमंगुलीय नूनं
प्रतनु ममेव विभाव्यते फलेन।
अरुणनखमनोहरासु तस्या-
श्च्युतमासि लब्धपदं यदंगुलीषु ॥ ११ ॥

सानुमती—जइ अण्णहत्थगदं भवे सच्चं एव्व सोआणिज्जं भवे। [यद्यन्यहस्तगतं भवेत्सत्यमेव शोचनीयं भवेत्]

विदूषकः—भो, इअं णाममुद्दा केण उग्घादेण तत्तहोदीए हत्थाब्भासं पाविदा। [भोः, इयं नाममुद्रा केनोद्घातेन तत्रभवत्या हस्ताभ्यासं प्रापिता]

सानुमती—(आत्मगतम्) मम वि कोदूहलेण आआरिदो एसो। [ममापि कौतूहलेनाकारित एषः]

राजा—श्रूयताम्। स्वनगराय प्रस्थितं मां प्रिया सबाष्पमाह कियच्चिरेणार्यपुत्रः प्रतिपत्तिं दास्यतीति।

विदूषकः—तदो तदो। [ततस्ततः]

राजा—पश्चादिमां मुद्रां तदंगुलौ निवेशयता मया प्रत्यभिहता-

हे मूँदरी! फलसे जाना जाता है कि-तेरा भी सुकृत मेरीही समान अति हीन है; क्योंकि-तू रक्तनखवाली उस [शकुन्तला] की अँगुलियोंमें पहुँचकर फिर गिर गयी ॥ ११ ॥

सानुमती—यदि औरके हाथमें जाती तौ अवश्यमेव अभागी अभागी होती।

विदूषक—यह तौ कह मूँदरी उस माननीयाके हाथोंतक किस उपक्रमसे पहुँची?

सानुमती—(आपही आप) मानो मेरेही कौतूहलसे प्रेरित होकर इसने यह पूछा है।

राजा—सुनो। अपने नगरकी ओर आते मुझसे प्यारीने आंखें भरके कहा कितने दिनोंमें आर्यपुत्र सुध लोगे।

विदूषक—भला फिर।

राजा—तब उसकी अँगुलीमें इस मूँदरीको पहिराकर मैंने उससे कहा-

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं
नामाक्षरं गणय गच्छति यावदन्तम्।
तावत्प्रिये मदवरोधगृहप्रवेशं
नेता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति ॥ १२ ॥

तच्च दारुणात्मना मया मोहान्नानुष्ठितम्।

सानुमति—रमणीओ क्खु अवही विहिणा विसंवादिदो। [रमणीयः खल्ववधिर्विधिना विसंवादितः]

विदूषक—कहं धीवलकप्पिअस्स लोहिअमच्छस्स उदलब्भन्तले आसि। [कथं धीवरकल्पितस्य रोहितमत्स्यस्योदराभ्यन्तर आसीत्]

राजा—शचीतीर्थं वन्दमानायाः सख्यास्ते हस्ताद्गङ्गास्रोतसि परिभ्रष्टम्।

विदूषकः—जुज्जइ। [युज्यते]

सानुमती—अदो एव्व तवस्सिणीए सउन्दलाए अधम्मभीरुणो इमस्स राएसिणो परिणए सन्देहो आसि। अहवा ईदिसो अणुराओ अहिण्णाणं अवेक्खादि। कहं विअ एदं। [अत एव तपस्विन्याः शकुन्तलाया अधर्मभीरोरस्य राजर्षेः परिणये सन्देह आसीत्। अथवेदृशोऽनुरागोऽभिज्ञानमपेक्षते। कथमिवैतत्]

इस मुद्रिकामें प्रतिदिन मेरे नामके एक २ अक्षरको गिनिये, जबही गिननेकी समाप्ति होगी; हे प्रिये! तभी [अर्थात्–तीन चार दिनमें] हमारे अन्तःपुरमें लेजानेवाला मनुष्य तेरे समीप आवैगा ॥ १२ ॥

परन्तु—मुझ निर्दयी अज्ञानने नहीं भेजा।

सानुमती—मिलनेकी अवधी भली रक्खी थी, विधाताने बिगाड दी।

विदूषक—धीवरसे काटी गयी रोहूके उदर बीच कैसे चली गयी?

राजा—शचीतीर्थमें प्रणाम करती प्यारीके हाथसे गंगाजीके सोतेमें गिर गयी।

विदूषक—ठीक है।

सानुमती—अहा! इसी कारण अधर्मसे डरनेवाले इस राजर्षिने तप-

राजा—उपालप्स्ये तावदिदमंगुलीयकम्।

विदूषकः—(आत्मगतम्) गहीदो णेण पन्था उम्मत्तआणं। [गृहीतोऽनेन पन्था उन्मत्तानाम्]

राजा—(अंगुलीयकं विलोक्य) मुद्रिके।

कथं नु तं बन्धुरकोमलांगुलिं
करं विहायासि निमग्नमम्भसि।

अथवा—

अचेतनं नाम गुणं न लक्षये-
न्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया ॥ १३ ॥

विदूषकः—(आत्मगतम्) कहं बुभुक्खाए खादिदव्वो ह्मि। [कथं बुभुक्षया खादितव्योऽस्मि]

राजा—प्रिये! अकारणपरित्यागानुशयतप्तहृदयस्तावदनुकम्प्यतामयं जनः पुनर्दर्शनेन।

स्विनी शकुंतलाके विवाहमें संदेह करा था। परंतु--इतना अनुराग मूँदरी देखनेसे हुआ। यह क्यों कर।

राजा--इसीसे अब इस मूँदरीकी निंदा करता हूं।

विदूषक--(आपही आप) इसने तौ उन्मत्तोंका मार्ग लेलिया।

राजा--(अँगूठीकी ओर देखकर) हे मूँदरी!

तू उन कोमल और सुंदर अँगुलियोंवाले हाथको त्यागकर जलमें कैसे गिर गयी?

अथवा--

यह तौ अचेतन वस्तु है गुणोंको नहीं पहचानती, मैंनेही प्यारीका कैसे तिरस्कार कर दिया? ॥ १३ ॥

विदूषक--(आपही आप) मैं क्यों भूखमें मरूं।

राजा—हे प्रिये! मैंने तुझे विनाही कारण त्यागा अब फिर दर्शन देकर इस जनके ऊपर कृपा कर।

(प्रविश्यापटीक्षेपेण चित्रफलकहस्ता)

चतुरिका—इअं चित्तगदा भट्टिणी । (इति चित्रफलकं दर्शयति) [इयं चित्रगता भट्टिनी]

विदूषकः—साहु वअस्स, महुरावत्थाणदंसणिज्जो भावाणुप्पवेसो । खलदि विअ मे दिट्ठी णिण्णुण्णअप्पदेसेसु । [साधु वयस्य, मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः । स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु]

सानुमती—अम्मो एसा राएसिणो णिउणदा । जाणे सही अग्गदो मे वट्टदि त्ति । [अहो एषा राजर्षेर्निपुणता । जाने सख्यग्रतो मे वर्तत इति]

राजा—

यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा ।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम् ॥ १४ ॥

सानुमती—सरिसं एदं पच्छादावगरुणो सिणेहस्स अणवलेवस्स अ । [सदृशमेतत्पश्चात्तापगुरोः स्नेहस्यानवलेपस्य च]

(पर्दा हटाकर चित्र हाथमें लिये आयकर)

चतुरिका–यह चित्रमें महाराणी लिखी है । (यों कहकर चित्रपट्टी दिखाती है)

विदूषक–हे मित्र ! इसकी लिखावट कैसी सुंदर है । ऊंचे नीचे स्थानोंमें मेरी दृष्टि धोखासा खा जाती है ।

सानुमती–आहा ! इस राजर्षिकी निपुणता धन्य है मुझे तो ऐसा जान पडता है कि सखी मेरे अगाडी खडी है ।

राजा--

चित्रमें जो जो भली भांति नहीं आता, चितेरे उसे अन्यथा लिख देते हैं । तथापि उसकी सुन्दरता कुछ २ रेखाओंसे युक्त है ॥ १४ ॥

सानुमती--स्नेहसे बढे हुए पश्चात्तापके यह वचन योग्यही हैं ।

विदूषकः—भो, दाणिं तिण्णि तत्तहोदीओ दीसन्ति। सव्वाओ अ दंसणीआओ। कदमा इत्थ तत्तहोदी सउन्दला। [भोः, इदानीं तिस्रस्तत्रभवत्यो दृश्यन्ते। सर्वाश्च दर्शनीयाः। कतमात्र तत्रभवती शकुन्तला]

सानुमती—अणभिण्णो क्खु ईदिसस्स रूवस्स मोहदिट्ठी अअं जणो। [अनभिज्ञः खल्वीदृशस्य रूपस्य मोहदृष्टिरयं जनः]

राजा—त्वं तावत्कतमां तर्कयसि।

विदूषकः—तक्केमि जा एसा सिढिलकेसबन्धणुव्वन्तकुसुमेण केसन्तेण उब्भिण्णस्सेअबिन्दुणा वअणेण विसेसदो ओसरिआहिं बाहाहिं अवसेअसिणिद्धतरुणपल्लवस्स चूअपाअवस्स पासे इसि-परिस्सन्ता विअ आलिहिदा सा सउन्दला। इदराओ सहीओ त्ति। [तर्कयामि यैषा शिथिलकेशबन्धनोद्वान्तकुसुमेन केशान्तेनोद्भिन्न-स्वेदबिन्दुना वदनेन विशेषतोऽपसृताभ्यां बाहुभ्यामवसेकस्निग्ध-तरुणपल्लवस्य चूतपादपस्य पार्श्वे ईषत्परिश्रान्तेवालिखिता सा शकुन्तला। इतरे सख्याविति]

राजा—निपुणो भवान्। अस्त्यत्र मे भावचिह्नम्।

विदूषक--अजी ! यहां तौ तीन भगवातियें दीखती हैं। और सभी दर्शन योग्य हैं। और इनमें श्रीमती शकुंतला कौनसी है ?

सानुमती--यह तिस रूपका अनभिज्ञ है। इसके नेत्र निष्फल हैं।

राजा--भला तू कौनसीको समझता है ?

विदूषक--मैं जानूं जिसका जूडा शिथिल होकर फूल गिरते हैं, मुखके ऊपर स्वेदबिंदू ढलक रहे हैं, और निराली भांती भुजा फैलाये सींचे हुए नवीन कोंपलवाले आम्रवृक्षके नीचे कुछेक थकीसी लिखी है यही शकुंतला है। और दोनों सखियें हैं।

राजा--तू बडा निपुण है। यह इसमें मेरे सात्त्विक भावके चिह्न हैं।

स्विन्नांगुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः।
अश्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्तिकोच्छ्वासात् ॥ १५ ॥

चतुरिके, अर्धलिखितमेतद्विनोदस्थानम्। गच्छ। वर्तिकां तावदानय।

चतुरिका—अज्ज माढव्व, अवलम्ब चित्तफलअं जाव आअच्छामि। [आर्य माढव्य, अवलम्बस्व चित्रफलकं यावदागच्छामि]

राजा—अहमेवैतदवलम्बे। (इति यथोक्तं करोति)

(निष्क्रान्ता चेटी)

राजा—अहं हि

साक्षात्प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं
चित्रार्पितां पुनरिमां बहु मन्यमानः।
स्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य
जातः सखे प्रणयवान्मृगतृष्णिकायाम् ॥ १६ ॥

विदूषकः—(आत्मगतम्) एसो अत्तभवं णदिं अदिक्कमिअ मिअतिण्हिआं संकन्तो। (प्रकाशम्) भो, अवरं किं एत्थ लिहिदव्वं। [एषोऽत्रभवान्नदीमतिक्रम्य मृगतृष्णिकां संक्रान्तः। भोः अपरं किमत्र लिखितव्यम्]

पसीजी हुई अँगुलियोंसे मलीन हुए किंनारे दीखते हैं, और कपोलके ऊपर आंसू गिरे दीखते हैं यह फरेतीके हिलनेसे हो गया है ॥ १५ ॥

हे चतुरिका ! यह विनोदस्थानका चित्रं आधाही लिखा है। जा अब वर्त्ती ले आ।

चतुरिका—आर्य माढव्य ! चित्रफलक थामो। मैं अब आई।

राजा--इसे मैंही लिये रहूंगा। (यौं कहकर चित्र लेताहै)

(दासी जाती है)

राजा--देखो मैं

प्रथम साक्षात् प्राप्त हुई प्रियाको त्यागकर अब पीछेसे चित्रलिखितको बहुत कुछ मानता हूं; जैसे कोई मार्गमें प्रभूत जलवाली नदीको तैरकर मृगतृष्णामें अभिलाषी होता है ॥ १६ ॥

विदूषक--(आपही आप) यह तो नदीको तरकर मृगतृष्णामें पडे है। (प्रकट) और इसमें क्या लिखना रहा है ?

सानुमती—जो जो पदेसो सहीए मे अहिरूवो तं तं आलिहिदुकामो भवे । [यो यः प्रदेशः सख्या मेऽभिरूपस्तं तमालिखितुकामो भवेत्]

राजा—श्रूयताम् ।

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥ १७ ॥

विदूषकः—(आत्मगतम्) जह अहं देक्खामि पूरिदव्वं णेण चित्तफलअं लम्बकुच्चाणं तावसाणं कदम्बेहिं । [यथाहं पश्यामि पूरितव्यमनेन चित्रफलकं लम्बकूर्चानां तापसानां कदम्बैः]

राजा—वयस्य, अन्यच्च शकुन्तलायाः प्रसाधनमभिप्रेतमस्माभिः ।

विदूषकः—किं विअ । [किमिव]

सानुमती—वणवासस्स सोउमारस्स अविणस्स अ जं सरिसं भविस्साद । [वनवासस्य सौकुमार्यस्याविनयस्य च यत्सदृशं भविष्यति]

सानुमती—जो जो प्रदेश हमारी सखीको प्यारे थे उन्ही उनको लिखा चाहते हैं ।

राजा—सुन ।

हंसोंके जोडोंसे युक्त रेतीवाली मालिनीनदी लिखनी रहीहै, उसके चारों ओर गौरीगुरु हिमाचलकी तलहटीके पवित्र पहाड कि-जिनके ऊपर हरिण बैठे हों, और मैं यहभी लिखनेकी इच्छा करता हूं कि-जिसकी शाखाके ऊपर वल्कलके वस्त्र लटकते हो ऐसे वृक्षके ऊपर श्याम मृगके सींगसे बायां नेत्र खुजलाती हुई एक हारिणी लिखूं ॥ १७ ॥

विदूषक—(आपही आप) मैं तो जानूं यह लम्बी २ डाढियोंवाले ऋषियोंके समूहसे भर दे ।

राजा—हे मित्र ! और शकुंतलाका एक आभूषण हमैं लिखनाथा ।

विदूषक—कैसा आभूषण ?

सानुमती—जो वनवासी कामिनियोंके सदृश होगा ।

राजा—

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे॥ १८॥

विदूषकः—भो, किं णु तत्तहोदी रत्तकुवलअपल्लवसोहिणा अग्गहत्थेण मुहं ओवारिअ चइदचइदा विअ ठिआ । (सावधानं निरूप्य । दृष्ट्वा) आ, एसो दासीए पुत्तो कुसुमरसपाडच्चरो तत्तहोदीए वअणं अहिलंघेदि महुअरो । [भोः, किं नु तत्रभवती रक्तकुवलयपल्लवशोभिनाग्रहस्तेन मुखमपवार्य चकितचकितेव स्थिता । आः, एष दास्याः पुत्रः कुसुमरसपाटच्चरस्तत्रभवत्या वदनमभिलंघति मधुकरः]

राजा—ननु वार्यतामेष धृष्टः ।

विदूषकः—भवं एव्व अविणीदाणं सासिदा इमस्स वारणे पहविस्सादि । [भवानेवाविनीतानां शासितास्य वारणे प्रभविष्यति]

राजा—युज्यते । अयि भोः कुसुमलताप्रियातिथे, किमत्र परिपतनखेदमनुभवसि ।

राजा—

हे मित्र ! गण्डस्थलपर्यन्त लम्बायमान सिरसका फूल भी नहीं लिखा, और स्तनोंके बीचमें शरच्चन्द्रमाकी समान मनोहर कमलनालकी माला भी नहीं लिखी ॥ १८ ॥

विदूषक—हे मित्र ! यह भगवती अपने मुखको लाल पत्तेकी सदृश हाथसे आच्छादन करे चकितसी क्यों खडी है ? (सम्यक् चित्त लगाकर देखके) आहा ! दासीपुत्र और फूलोंके रसका चोर यह भ्रमर भगवतीके मुखपर घूमता है ।

राजा—इस दुष्ट भ्रमरको निवार दो ।

विदूषक—दुष्टोंको दण्ड देनेवाले तुमही इसको निवारण कर सकोगे ।

राजा—उचित है । हे पुष्पलताओंके प्यारे पाहुने ! तुमने घूमते २ इधर कैसे परिश्रम करा ?

एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापि सती भवन्तमनुरक्ता ।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु विना त्वया पिबति ॥१९॥

सानुमती—अज्ज अभिजादं क्खु एसो वारिदो । [अद्याभिजातं खल्वेष वारितः]

विदूषकः—पडिसिद्धा वि वामा एसा जादी । [प्रतिषिद्धापि वामैषा जातिः]

राजा—एवं भोः, न मे शासने तिष्ठसि । श्रूयतां तर्हि संप्रति ।

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु ।
बिम्बाधरं स्पृशसि चेद्भ्रमर प्रियाया-
स्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम् ॥ २० ॥

विदूषकः—एव्वं तिक्खणदण्डस्स किं ण भाइस्सदि । (प्रहस्य आत्मगतम्) एसो दाव उम्मत्तो । अहं पि एदस्स सङ्गेण ईदिसवण्णो विअ संवुत्तो । (प्रकाशम्) भो, चित्तं क्खु एदं । [एवं तीक्ष्णदण्डस्य किं न भेष्यति । एष तावदुन्मत्तः । अहमप्येतस्य सङ्गेनेदृशवर्ण इव संवृत्तः । भोः, चित्रं खल्वेतत्]

हे मधुकर ! फूलोंके ऊपर बैठी और प्यासी भी भौंरी तुमसे अनुराग करती तुम्हारी बाट जोह रही है, और तेरे विना मधु नहीं पीती ॥ १९ ॥

सानुमती—यह निवारण करना उत्तम हुआ ।

विदूषक—इसकी जातिही ढीठ है, वरजनेसे नहीं मानता ।

राजा—ऐसा है । अरे ! मेरी आज्ञा नहीं पालता तौ सुन अब ।

अछूते नवीन पौधेकी कोमल कोंपलकी तुल्य सुन्दर ओष्ठ मैंने रतिके समय धीरे धीरे पान करे थे, अरे भौंरे ! जो तू प्यारीके बिम्बाधरका स्पर्श करेगा तौ तुझे कमलकी कलीके बीच बंदी कर दूंगा ॥ २० ॥

विदूषक-ऐसे तीक्ष्ण दण्डसे क्यों न डरैगा । (हँसकर । आपही आप) यह तौ अब मात रहा है । इसके साथ रहनेसे मैं भी ऐसाही हो गया । (प्रगट) अजी ! यह तौ चित्र है ।

राजा—कथं चित्रम्।

सानुमती—अहं पि दाणिं अवगदत्था, किं उण जहलिहिदाणुभावी एसो। [अहमपीदानीमवगतार्था, किं पुनर्यथालिखितानुभाव्येषः]

राजा—वयस्य, किमिदमनुष्ठितं पौरोभाग्यम्।

दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ॥ २१ ॥

(इति बाष्पं विहरति)

सानुमती—पुव्वावरविरोही अपुव्वो एसो विरहमग्गो। [पूर्वापरविरोध्यपूर्व एष विरहमार्गः]

राजा—वयस्य, कथमेवमविश्रान्तदुःखमनुभवामि।

प्रजागरात्खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः।
बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥ २२ ॥

राजा—कैसा चित्र ?

सानुमती—मैंभी अब समझी, फिर इसे कहांसे ज्ञान होयगा।

राजा—अरे मित्र ! तूने यह क्या दुष्कर्म कर दिया।

तन्मय चित्तसे मैं साक्षात् दर्शनके सुखका अनुभव कर रहा था। यह चित्र है इस प्रकार तुझ स्मरण करानेवालेने फिर भी हमारी प्यारीको चित्रलिखित बना दिया ॥ २१ ॥

(यों कहकर आँसू गिराता है)

सानुमती—पूर्वापरका विरोध करनेवाला यह वियोगमार्ग निरालेही ढङ्गका होता है।

राजा—हे मित्र ! इस घडी २ के दुःखको कैसे सहूं ?

निरन्तर जागनेसे उस प्यारीका स्वप्नमेंभी समागम दुर्लभ हो गया, और चित्रलिखितको आँसू नहीं देखने देते ॥ २२ ॥

---

१ प्रथम चित्र समझा, फिर उसे सत्य शकुन्तला जाना, पीछेसे फिर चित्रही जाना, यही पूर्वापरका विरोध है।

सानुमती—सव्वहा पमज्जिदं तुए पच्चादेसदुक्खं सउन्दलाए। [सर्वथा प्रमार्जितं त्वया प्रत्यादेशदुःखं शकुन्तलायाः]

(प्रविश्य)

चतुरिका—जेदु जेदु भट्टा। वट्टिआकरण्डअं गेण्हिअ इदोमुहं पत्थिद ह्मि। [जयतु जयतु भर्ता। वर्तिकाकरण्डकं गृहीत्वेतोमुखं प्रस्थितास्मि]

राजा—किं च।

चतुरिका—सो मे हत्थादो अन्तरा तरलिआदुदिआए देवीए वसुमदीए अहं एव्व अज्जउत्तस्स उवणइसं त्ति सबलक्कारं गहीदो। [स मे हस्तादन्तरा तरलिकाद्वितीयया देव्या वसुमत्याहमेवार्यपुत्रस्योपनेष्यामीति सबलात्कारं गृहीतः]

विदूषकः—दिट्ठीआ तुमं मुक्का। [दिष्ट्या त्वं मुक्ता]

चतुरिका—जाव देवीए विडवलग्गं उत्तरीअं तरलिआ मोचेदि ताव मए णिव्वाहिदो अत्ता। [यावद्देव्या विटपलग्नमुत्तरीयं तरलिका मोचयति तावन्मया निर्वाहित आत्मा]

राजा—वयस्य, उपस्थिता देवी बहुमानगर्विता च। भवानिमां प्रतिकृतिं रक्षतु।

सानुमती—तूने शकुन्तलाके तिरस्कारका समस्त दुःख धोदिया।

(आयकर)

चतुरिका—महाराजकी जयजयकार रहै। मैं रङ्गोंका डिब्बा लिये इधरको आती थी।

राजा—फिर क्या हुआ ?

चतुरिका—उसे मेरे हाथसे तरालिकासहित महारानी वसुमतीने मैंही आर्यपुत्रको दूंगी यह कहकर बरजोरी छीन लिया।

विदूषक—भला हुआ तू बच आयी।

चतुरिका—जबतक महारानीके वृक्षमें उलझे दुपट्टेको तरालिका सुलझाती रही तबतक मैं आपा लेकर चली आयी।

राजा—हे मित्र! मानगर्वीली रानी वसुमती आती है। तू इस चित्रको रखले।

विदूषकः—अत्ताणं त्ति भणाहि । (चित्रफलकमादयोत्थाय च) जइ भवं अन्तेउरकालकूडादो मुच्चीअदि तदो मं मेहप्पडिच्छन्दे पासादे सद्दावेहि । (इति द्रुतपदं निष्क्रान्तः) [आत्मानमिति भण । यदि भवानन्तःपुरकालकूटान्मोक्ष्यते तदा मां मेघप्रतिच्छन्दे प्रासादे शब्दापय]

सानुमती—अण्णसंकन्तहिअओ वि पढमसंभावणं अवेक्खदि सिढिलसोहदो दाणिं एसो [अन्यसंक्रान्तहृदयोऽपि प्रथमसंभावनामपेक्षते शिथिलसौहार्द इदानीमेषः]

(प्रविश्य पत्रहस्ता)

प्रतीहारी—जेदु जेदु देवो [जयतु जयतु देवः]

राजा—वेत्रवति, न खल्वन्तरा दृष्टा त्वया देवी ।

प्रतिहारी—अह इं । पत्तहत्थं मं देक्खिअ पडिणिउत्ता । [अथ किम् । पत्रहस्तां मां प्रेक्ष्य प्रतिनिवृत्ता]

राजा—कार्यज्ञा कार्योपरोधं मे परिहरति ।

प्रतिहारी—देव, अमच्चो विण्णवेदि । अत्थजादस्स गणणाबहुलदाए एक्कं एव्व पोरकज्जं अवेक्खिदं तं देवो पत्तारूढं पच्चक्खीकरेदु त्ति । [देव, अमात्यो विज्ञापयति । अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षितं तद्देवः पत्रारूढं प्रत्यक्षीकरोत्विति]

विदूषक—आत्माको छिपा यों कहो । (चित्रफलक लेकर और उठकर) यदि आप रनवासके कालकूटसे छूट जायँ तौ मेघप्रतिच्छन्द नामके महलमें मुझेभी बुला लेना । (यह कहकर झटपट चला गया)

सानुमती—दूसरीमें आसक्त होकरभी पहली प्रीति निबाहता है, परंतु अब थोडाही अनुराग करता है ।

(आयकर पत्र हाथमें लिये)

प्रतीहारी—महाराजकी जय हो ।

राजा—हे प्रतीहारिणी ! तूने मार्गमें महारानीको तौ नहीं देखा ।

प्रतीहारी—हां हां मुझे हाथमें पत्र लिये देखके लौट गयी ।

राजा—कार्य जानती है, मेरा कार्य रोकना नहीं चाहती है ।

प्रतीहारी—महाराज ! मन्त्रीने निवेदन करा है कि-धनकी संख्या

राजा—इतः पत्रिकां दर्शय।

(प्रतीहार्युपनयति)

राजा—(अनुवाच्य) कथम्। समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः। अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतदमात्येन लिखितम्। कष्टं खल्वनपत्यता। बहुधनत्वाद्बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम्। विचार्यतां यदि काचिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात्।

प्रतीहारी—देव, दाणिं एव्व साकेदअस्स सेट्ठिणो दुहिआ णिव्वुत्तपुंसवणा जाआ से सुणीअदि। [देव, इदानीमेव साकेतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्तपुंसवना जायास्य श्रूयते]

राजा—ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति। गच्छ। एवममात्यं ब्रूहि।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि। (इति प्रस्थिता) [यद्देव आज्ञापयति]

अधिक होनेके कारण आज नगरका एकही कार्य हुआ सो आप पत्रमें लिखा देख लीजिये।

राजा—लाओ पत्री दिखाओ।

(प्रतीहारी देती है)।

राजा—(बांचकर) क्या। समुद्रका व्यापार करनेवाला धनमित्र नाम सेठ नाव टूटनेसे डूब गया। और वह महात्मा सन्तानरहित है। उसका प्रभूत धन राजभण्डारमें ले लिया जाय यह मन्त्रीने लिखा है। हाय संतान न होना बडा कष्ट है। वह सेठ महाशय प्रभूत धनवान् होनेके कारण बहुतसी स्त्रियोंवाला होगा। विचारना चाहिये उसकी स्त्रियोंमें कोई गर्भवती है।

प्रतीहारी—महाराज! सुना है कि-अयोध्याके शेठकी बेटी उसकी स्त्रीका अभी गर्भाधानसंस्कार हुआ है।

राजा—लिखा है कि-गर्भका बालक पिताके धनका अधिकारी होता है। जा। मंत्रीसे ऐसे ही कहदे।

प्रतीहारी—महाराजकी जो आज्ञा। (चली गयी)

राजा—एहि तावत्।

प्रतीहारी—इआह्मि। [इयमस्मि]

राजा—किमनेन संततिरस्ति नास्तीति।

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥ २३ ॥

प्रतीहारी—एव्वं णाम घोसइदव्वं। (निष्क्रम्य। पुनः प्रविश्य) काले पवुट्ठं विअ अहिणन्दिदं देवस्स सासणम्। [एवं नाम घोषयितव्यम्। काले प्रवृष्टमिवाभिनन्दितं देवस्य शासनम्]

राजा—(दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य) एवं भोः संततिच्छेदनिरवलम्बानां कुलानां मूलपुरुषावसाने संपदः परमुपतिष्ठन्ति। ममाप्यन्ते पुरुवंशश्रीरकाल इवोप्तबीजा भूरेवंवृत्ता।

प्रतीहारी—पडिहदं अमङ्गलम्। [प्रतिहतममङ्गलम्]

राजा—धिङ्मामुपस्थितश्रेयोवमानिनम्।

राजा—नैक इधर तौ आ।

प्रतीहारी—यह आयी।

राजा—इससे क्या है सन्तान हो वा न हो।

पापियोंके अतिरिक्त जिस जिस प्रजाको प्यारे बांधवका वियोग हो वोही वोह प्रजा उन प्यारे बांधवोंके स्थानमें दुष्यन्तको समझें यह ढँढोरा फेर दो ॥ २३ ॥

प्रतीहारी—यही ढँढोरा फेर दिया जायगा। (जायकर फिर आयके) समयके ऊपर वर्षनेकी समान आपकी आज्ञाने आनन्द दिया है।

राजा—(गहरी लम्बी श्वास भरकर) हाय! जिन कुलोंमें संतान नहीं होती उनकी सम्पत्ति मूल पुरुषके अंतमें ऐसे ही दूसरोंके घर जाती है। किसी दिन पुरुवंशका ऐश्वर्य भी अकालमें बोयी हुई भूमीकी समान रह जायगा।

प्रतीहारी—परमेश्वर इस अमंगलको दूर करैं।

राजा—प्राप्त हुए सुखका मुझ तिरस्कार करनेवालेको धिक्कार है।

सानुमती—असंसअं सहिं एव्व हिअए करिअ णिन्दिदो णेन अप्पा। [असंशयं सखीमेव हृदये कृत्वा निन्दितोऽनेनात्मा]

राजा—

संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी
त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा।
कल्पिष्यमाणा महते फलाय
वसुंधरा काल इवोप्तबीजा ॥ २४ ॥

सानुमती—अपरिच्छिण्णा दाणिं दे संददी भविस्सदि। [अपरिच्छिन्नेदानीं ते संततिर्भविष्यति]

चतुरिका—(जनांतिकम्) अए, इमिणा सत्थवाहवुत्तन्तेण विउणुव्वेओ भट्टा। णं अस्सासिदुं मेहप्पडिच्छन्दादो अज्जं माढव्वं गेण्हिअ आअच्छेहि। [अयि, अनेन सार्थवाहवृत्तान्तेन द्विगुणोद्वेगो भर्ता। एनमाश्वासयितुं मेघप्रतिच्छन्दादार्यं माढव्यं गृहीत्वागच्छ]

प्रतीहारी—सुट्ठु भणासि। (इति निष्क्रांता) [सुष्ठु भणसि]

सानुमती—निःसन्देह मेरी सखीको हृदयमें स्मरण करके इसने आत्माकी निन्दा करी है।

राजा—

मुझसे गर्भवती हुई कुलकी प्रतिष्ठारूप धर्मपत्नीको मैंने इस प्रकार त्याग दिया, जैसे-प्रभूत फल देनेके लिये कल्पना करी हुई भूमीको फलनेके समय त्याग देता है ॥ २४ ॥

सानुमती—तेरे वंशमें लगातार सन्तान होगी।

चतुरिका—(शनैः शनैः) हाय ! शेठजीके इस वृत्तान्तने महाराजाको दूना उद्विग्न कर दिया। इन्हें समुझानेके लिये मेघप्रतिछन्द महलसे आर्य माढव्यको बुलाला।

प्रतीहारी—ठीक कहती है। (यौं कहकर चली गयी)

राजा—अहो दुष्यन्तस्य संशयमारूढाः पिण्डभाजः । कुतः ।

अस्मात्परं बत यथाश्रुति संभृतानि
को नः कुले निवपनानि नियच्छतीति ।
नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं
धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति ॥ २५ ॥

(इति मोहमुपगतः)

चतुरिका—(ससंभ्रममवलोक्य) समस्ससदु भट्टा । [समाश्वसितु भर्ता]

सानुमती—हद्धी हद्धी । सदि क्खु दीवे ववधाणदोसेण एसो अन्धआरदोसं अणुहोदि । अहं दाणिं एव्व णिव्वुदं करेमि । अहवा सुदं मए सउन्दलं समस्सासअन्तीए महेन्दजणणीए मुहादो जण्णभाओस्सुआ देवा एव्व तह अणुचिट्ठिस्सन्ति जह अइरेण धम्मपदिणिं भट्टा अहिणन्दिस्सदि त्ति । ता ण जुत्तं कालं पडिपालिदुं । जाव इमिणा वुत्तन्तेण पिअसहिं समस्सासेमि । (इत्युद्भ्रान्तकेन निष्क्रान्ता) [हा धिक् हा धिक् । सति खलु दीपे व्यवधानदोषेणैषोऽन्धकारदोषमनुभवति । अहमिदानीमेव निर्वृतं करोमि । अथवा श्रुतं मया शकुन्तलां समाश्वासयन्त्या महेन्द्रजनन्या मुखाद्यज्ञभागोत्सुका देवा एव तथानुष्ठास्यन्ति यथाचिरेण धर्मपत्नीं भर्ताभिनन्दिष्यतीति । तन्न युक्तं कालं प्रतिपालयितुम् । यावदनेन वृत्तान्तेन प्रियसखीं समाश्वासयामि]

राजा—हाय ! दुष्यन्तके पितर सन्देहको प्राप्त होंगे । क्योंकि ।

बडे खेदकी बात है कि–इस दुष्यन्तके पीछे हमारे कुलमें वेदानुकूल श्राद्धमें भोजन कौन देगा ? ठीक है कि–मुझ पुत्ररहितके दिये गये उसी जलको पितर पीते हैं जो आँसू धोनेसे बचता है, अर्थात्–रोय २ कर तर्पण लेते हैं ॥ २५ ॥

(यों कहकर मोहित हो गया)

चतुरिका—(अचम्भेसे देखकर) महाराज सावधान होओ ।

सानुमती—हाय हाय ! ! ! धिक्कार है । यह इस प्रकार दुःखी है जैसे

(नेपथ्ये)

अब्बह्मण्णम् [अब्रह्मण्यम्]

राजा—(प्रत्यागतचेतनः । कर्णं दत्त्वा) अये, माढव्यस्येवार्तस्वरः । कः कोऽत्र भोः ।

(प्रविश्य)

प्रतीहारी—(ससंभ्रमम्) परित्ताअदु देवो संसअगदं वअस्सम् [परित्रायतां देवः संशयगतं वयस्यम्]

राजा—केनात्तगन्धो माणवकः ।

प्रतीहारी—अदिट्ठरूवेण केण वि सत्तेण अदिक्कमिअ मेहप्पडिच्छन्दस्स पासादस्स अग्गभूमिं आरोविदो [अदृष्टरूपेण केनापि सत्त्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्य प्रासादस्याग्रभूमिमारोपितः]

दीपक रक्खा हो और पर्दा पड जानेसे अन्धकारमें दुःखी हो । मैं अबही सावधान कर देती । परन्तु-मैंने शकुन्तलाको समझाती हुई इन्द्रकी माताके मुखसे सुना था कि-यज्ञभागके उत्काण्ठित देवता ही ऐसा अनुष्ठान करेंगे कि-जिससे तेरा पति शीघ्रही तुझ धर्मपत्नीको ग्रहण करेगा अब मुझे इस समय कुछभी करना कर्त्तव्य नहीं । तबतक इस शुभ वृत्तान्तसे प्यारी सखीको धीर बँधाऊं । (उडकर चली गयी)

(नेपथ्यमें)

कोई बचाओ ।

राजा—(सावधान होकर कान लगाके) हाँ ! यह तो माढव्य कैसा झीना स्वर है । अरे ! यहां कोई है ?

(आयकर)

प्रतीहारी—(अचम्भेसे) हे देव ! विपत्तिमें फँसे अपने मित्रको बचाओ ।

राजा—विदूषकका किसने तिरस्कार करा है ?

प्रतीहारी—विना दीखते किसी जन्तुने पकडकर मेघप्रतिच्छन्द महलकी मुडेलीपर रखदिया ।

राजा—(उत्थाय) मा तावत् । ममापि सत्वैरभिभूयन्ते गृहाः । अथवा ।

अहन्यहन्यात्मन एव ताव-
ज्ज्ञातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम् ।
प्रजासु कः केन पथा प्रयाती-
त्यशेषतो वेदितुमस्ति शक्तिः ॥ २६ ॥

(नेपथ्ये)

भो वअस्स, अविहा अविहा [भो वयस्य, अविहा अविहा]

राजा—(गतिभेदेन परिक्रामन्) सखे, न भेतव्यं न भेतव्यम् ।

(नेपथ्ये)

(पुनस्तदेव पठित्वा) कहं ण भाइस्सं । एस मं को वि पच्च-वणदसिरोहरं उच्छूं विअ तिण्णभङ्गं करेदि [कथं न भेष्यामि । एष मां कोऽपि प्रत्यवनतशिरोधरमिक्षुमिव त्रिभङ्गं करोति]

राजा—(सदृष्टिक्षेपम्) धनुस्तावत् ।

राजा—(उठकर) अभी तौ ऐसा नहीं । क्या मेरे घरमें भी भूत प्रेत आने लगे । अथवा ।

पहले तौ प्रतिदिन असावधानीसे अपनाही चलना जाननेको अयोग्य है, तौ प्रजामें कौन २ किस २ मार्गमें होकर चलता [कैसे २ आच-रण करता] है यह समग्रतासे जाननेकी किसको शक्ति है ॥ २६ ॥

(नेपथ्यमें)

हाय मित्र ! मैं दुःखी हूं मुझे बचाओ ।

राजा—(दौडकर चलके) हे मित्र ! भय मत कर ।

(नेपथ्यमें)

(फिर वोही पढकर) डरूं कैसे नहीं । यह कोई मुझे दबाये हुए गन्नेकी समान ऐंठे डालता है ।

राजा—(इधर उधर देखकर) धनुष लाओ ।

(प्रविश्य शार्ङ्गहस्ता)

यवनी—भट्टा, एदं हत्थावावसहिदं सरासणं [भर्तः, एतद्धस्तावापसहितं शरासनम्]

(राजा सशरं धनुरादत्ते)

(नेपथ्ये)

एष त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी
शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम्।
आर्तानां भयमपनेतुमात्तधन्वा
दुष्यन्तस्तव शरणं भवत्विदानीम् ॥ २७ ॥

राजा—(सरोषम्) कथं मामेवोद्दिशति । तिष्ठ कुणपाशन, त्वमिदानीं न भविष्यसि। (शार्ङ्गमारोप्य) वेत्रवति, सोपानमार्गमादेशय।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो। [इत इतो देवः]

(सर्वे सत्वरमुपसर्पन्ति)

(आयकर हाथमें धनुष लिये)

यवनी—महाराज ! हस्तावारसहित धनुष यह है।

(राजा बाणसहित धनुष लेता है)

(नेपथ्यमें)

तेरे कण्ठके ताजे रक्तका प्यासा यह मैं तुझे इस प्रकार हनन करूंगा, जैसे तडफडाते पशुको सिंह मारता है; दुःखितोंका भय दूर करनेके लिये धनुष धारण करनेवाला दुष्यंत तुझे बचावैगा।

राजा—(रिसाकर) क्या मुझे भी चितौनी देता है । अरे मरी लोथके खानेवाले ! ठहर तू अभी न रहैगा। (धनुष चढाकर) अरी वेत्रवती ! पैरसान तौ बता।

प्रतीहारी—इधर आओ महाराज ! इधर आओ।

(सब झटपट जाते हैं)

राजा—(समन्ताद्विलोक्य) शून्यं खल्विदम् ।

(नेपथ्ये)

अविहा । अविहा । अहं अत्तभवन्तं पेक्खामि । तुमं मं ण पेक्खसि । बिडालग्गहीदो मूसओ विअ णिरासो ह्मि जीविदे संवुत्तो । [अविहा अविहा । अहमत्रभवन्तं पश्यामि । त्वं मां न पश्यसि । बिडालगृहीतो मूषिक इव निराशोऽस्मि जीविते संवृत्तः]

राजा—भोस्तिरस्करिणीगर्वित, मदीयं शस्त्रं त्वां द्रक्ष्यति । एष तमिषुं संदधे ।

यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षति च द्विजम् ।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ॥ २८ ॥

(इत्यस्त्रं संधत्ते)

(ततः प्रविशति विदूषकमुत्सृज्य मातलिः)

राजा—(चारों ओर देखकर) यहां तो सब सूनसान है ।

(नेपथ्यमें)

दुःखसे बचाओ । दुःखसे छुडाओ । मैं तो आपको देख रहा हूं । आप मुझे नहीं देखते । बिलावके पकडे मूषेकी समान इस समय जीवनसे निराश हो रहा हूं ।

राजा—हे कपटजालके अभिमानी ! मेरा बाण तुझे देखेगा । अब उसी बाणको चढाता हूं ।

जो मारने योग्य तुझे मारेगा, और रक्षा करने योग्य ब्राह्मण [विदूषक] को रक्षा करेगा । देखो हंस दूधको ग्रहण कर लेता है, और उसमें मिश्रित हुए जलको त्याग देता है ॥ २८ ॥

(यों कहकर अस्त्र चढाता है)

(इतनेहीमें विदूषकको छोडकर मातलि आता है)

मातलिः—राजन् !

कृताः शरव्यं हरिणा तवासुराः शरासनं तेषु विकृष्यतामिदम् ।
प्रसादसौम्यानि सतां सुहृज्जने पतन्ति चक्षूंषि न दारुणाः शराः२९

राजा—(अस्त्रमुपसंहरन्) अये, मातलिः। स्वागतं महेन्द्रसारथे।

(प्रविश्य)

विदूषकः—अहं जेण इट्ठिपसुमारं मारिदो सो इमिणा साअदेण अहिणन्दीअदि [अहं येनेष्टिपशुमारं मारितः सोऽनेन स्वागतेनाभिनन्द्यते]

मातलिः—(सस्मितम्) आयुष्मन्, श्रूयतां यदस्मि हरिणा भवत्सकाशं प्रेषितः ।

राजा—अवहितोऽस्मि !

मातलिः—अस्ति कालनेमिप्रसूतिदुर्जयो नाम दानवगणः ।

राजा—अस्ति । श्रुतपूर्वं मया नारदात् ।

मातलि—हे राजन् !

इन्द्रने तेरे बाणोंके असुरही लक्ष्य बनाये हैं, इस धनुषबाणको उन्हींके ऊपर चढाओ और मित्रोंके ऊपर सज्जन जन प्रीतिभरी दृष्टिही डालते है, दारुण बाण नहीं डालते ॥ २९ ॥

राजा—(बाण उतारता) क्या मातलि है। हे इन्द्रके सारथि। भले तौ आये।

(आयकर)

विदूषक—हैं मुझे यज्ञके पशुकी समान मारे डालता था, यह उसका स्वागत पूछते हैं ।

मातलि—(मुसकाकर) चिरंजीव ! सुनो जिस लिये इन्द्रने मुझे तुम्हारे पास भेजा है ।

राजा—मैं सुनता हूं ।

मातलि—कालनेमिके वंशमें एक दानवोंका गण दुर्जय है ।

राजा—है तौ मैंने प्रथमही नारदजीसे सुना था ।

मातलिः—

सख्युस्ते स किल शतक्रतोरजय्य-
स्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता।
उच्छेत्तुं प्रभवति यन्न सप्तसप्ति-
स्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः ॥ ३० ॥

स भवानात्तशस्त्र एव इदानीं तमैन्द्ररथमारुह्य विजयाय प्रतिष्ठताम्।

राजा—अनुगृहीतोऽहमनया मघवतः संभावनया। अथ माढव्यं प्रति भवता किमेवं प्रयुक्तम्।

मातलिः—तदपि कथ्यते। किंचिन्निमित्तादपि मनःसंतापादायुष्मान्मया विक्लवो दृष्टः। पश्चात्कोपयितुमायुष्मन्तं तथा कृतवानस्मि। कुतः।

ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते।
प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात्प्रतिपद्यते हि जनः ॥ ३१ ॥

मातलि—वोह आपके सखा इन्द्रसे निश्चय अजेय है, और संग्राममें उसके हननकर्त्ता तुमही कहे गये हो; सूर्यदेव रात्रीके जिस अन्धकारका नाश नहीं कर सक्ते उसको चन्द्रमाही हटाता है ॥ ३० ॥

सो महाराज आप अस्त्रशस्त्र लेकर इन्द्रके रथपर चढके अब विजयके लिये प्रस्थान करो।

राजा–सुरराज इन्द्रने इस आदरसे बडी कृपा करी। परंतु माढव्यको तुमने इतना क्यों झिकाया।

मातलि–वोह भी कहता हूं। मैंने आपको मनके किसी कारणसे व्याकुल देखा था। पीछे आपको क्रोधादि लानेके लिये वैसा करने लगा था। कारण कि।

ईंधन हिलानेसे अग्नि सम्यक् जलती है, छेडनेहीसे सर्प फण उठाता है; और प्रायः मनुष्यभी क्षोभ दिलानेहीसे अपनी महिमाको प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

राजा—(जनान्तिकम्) वयस्य, अनतिक्रमणीया दिवस्पतेराज्ञा । तदत्र परिगतार्थं कृत्वा मद्वचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि ।

त्वन्मतिः केवला तावत्परिपालयतु प्रजाः ।
अधिज्यमिदमन्यस्मिन्कर्मणि व्यावृतं धनुः ॥ ३२ ॥

इति ।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि । (इति निष्क्रान्तः) [यद्भवानाज्ञापयति]

मातलिः—आयुष्मान्रथमारोहतु ।

(राजा रथाधिरोहणं नाट्यति)

(इति निष्क्रांताः सर्वे)

इति षष्ठोऽङ्कः ।

राजा-(हौलेसे) स्वर्गप्रति इन्द्रकी आज्ञाको उल्लंघन करना नहीं चाहिये । इससे समाचार समझाकर मेरी ओरसे पिशुनमन्त्रीसे कह दे ।

कि जबतक हमारा धनुष अन्य कार्यमें प्रवृत्त है तबतक तुम अपनी बुद्धिसे प्रजाका पालन करो ॥ ३२ ॥

बस इतनाही ।

विदूषक-आपकी जो आज्ञा । (यौं कहकर चला गया)

मातलि-आप रथपर चढिये ।

(राजा रथके ऊपर चढता है)

(इस प्रकार सब चले गये)

इति षष्ठ अंक समाप्त.

सप्तमोऽङ्कः ।

(ततः प्रविशत्याकाशयानेन रथाधिरूढो राजा मातलिश्च)

राजा—मातले, अनुष्ठितनिदेशोऽपि मघवतः सत्क्रियाविशेषादनुपयुक्तमिवात्मानं समर्थये ।

मातलिः—(सस्मितम्) आयुष्मन्, उभयमप्यपरितोषं समर्थये ।
प्रथमोपकृतं मरुत्वतः प्रतिपत्त्या लघु मन्यते भवान् ।
गणयत्यवदानविस्मितो भवतः सोऽपि न सत्क्रियागुणान् ॥१॥

राजा—मातले, मा मैवम् । स खलु मनोरथानामप्यभूमिर्विसर्जनावसरसत्कारः । मम हि दिवौकसां समक्षमर्धासनोपवेशितस्य
अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन ।
आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा ॥ २ ॥

(तदनन्तर राजा और मातलि रथपर बैठे आकाशमार्गसे उतरते हैं)

राजा—हे मातलि ! मैं इन्द्रकी आज्ञा पालन करके भी अपनेको इस बडे आदरयोग्य नहीं मानता हूं ।

मातलि—(मुसकाकर) हे आयुष्मन् ! दोनोंको यही संकोच है ।

आप तौ इन्द्रके गौरवसे प्रथम उपकार करके आदरको लघु मानते हैं; और आपके शुद्ध कर्मोंसे विस्मित हुआ वोह इन्द्र अपने करे हुए आदरसन्मान आदि गुणोंको कुछ नहीं गिनता ॥ १ ॥

राजा—हे मातलि ! ऐसा मत कहो । विदा होते समय उसने इतना सत्कार करा जितनेकी आशा नहीं थी । देखो देवताओंके देखतेही देखते मुझ आधे आसनपर बैठें ।

जिसके मिलनेकी आशा करे निकटवर्त्ती जयन्तको देखकर मुसकाके हरिचन्दन लगी कल्पवृक्षकी माला इन्द्रने गलेसे उतारके मुझे पहिरा दी थी ॥ २ ॥

मातलिः—किमिव नामायुष्मानमरेश्वरान्नार्हति । पश्य ।

सुखपरस्य हरेरुभयैः कृतं त्रिदिवमुद्धृतदानवकण्टकम् ।
तव शरैरधुना नतपर्वभिः पुरुषकेसरिणश्च पुरा नखैः ॥ ३ ॥

राजा—अत्र खलु शतक्रतोरेव महिमा स्तुत्यः ।

सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम् ।
किंवाभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता
तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत् ॥ ४ ॥

मातलिः—सदृशमेवैतत् । (स्तोकमन्तरमतीत्य) आयुष्मन्, इतः पश्य नाकपृष्ठप्रतिष्ठितस्य सौभाग्यमात्मयशसः ।

विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णैरमी कल्पलतांशुकेषु ।
विचिन्त्य गीतक्षमसर्थजातं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति ॥ ५ ॥

मातलि—महराज ! आप सुरराज इन्द्रसे किस किस आदरके योग्य नहीं हैं । देखिये ।

अत्यन्त सुखी इन्द्रके स्वर्गके दानरूप कांटे दोहीने उखाडे थे; अब तौ तुम्हारे पैने बाणोंने; और प्रथम नरसिंहजीके नखोंने ॥ ३ ॥

राजा—इसमें भी शतमखकर्त्ता इन्द्रहीकी महिमा सराहनी चाहिये ।

जिन वडे २ कार्योंमें सेवक कार्य सम्पादन करते हैं वोहभी स्वामियाहाक गौरवका गुण जानो; यदि किरणमाली सूर्य उसे [अरुणको] अपने अगाडी नहीं करते तौ अरुण रात्रीका अंधकार दूर नहीं कर सक्ता ॥ ४ ॥

मातलि—ठीक है । (नैक दूर चलकर) हे चिरंजीव ! इधर दृष्टि करके स्वर्गपर्यन्त पहुँचे अपने यशका गौरव देखो ।

देवाङ्गनाओंके अंगरागसे बच हुए रङ्गोंसे यह देवता तुम्हारे चरित्रोंको गाने योग्य सार्थक पदोंसे विचार २ कर कल्पलताके वस्त्रोंके ऊपर लिखते ह ॥ ५ ॥

राजा—मातले, असुरसंप्रहारोत्सुकेन पूर्वेद्युर्दिवमधिरोहता न लक्षितः स्वर्गमार्गः। कतरस्मिन्मरुतां पथि वर्तामहे।

मातलिः—

त्रिस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां
ज्योतींषि वर्तयति च प्रविभक्तरश्मिः।
तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं
वायोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम् ॥ ६ ॥

राजा—मातले, अतः खलु सबाह्यकरणो ममान्तरात्मा प्रसीदति। (रथाङ्गमवलोक्य) मेघपदवीमवतीर्णौ स्वस्तावत्।

मातलिः—कथमवगम्यते।

राजा—हे मातलि ! प्रथम दानवोंको मारनेके उत्साहसे प्रथम स्वर्गको आते हमने स्वर्गका मार्ग नहीं देखा था। अब पवनोंके कौनसे मार्गमें चल रहे हैं।

मातलि—

जो आकाशगंगाको वहाती है, और जो वायुरूपसे विभक्त होकर नक्षत्रमण्डलको चलाती है, उसी परिवहनामक वायुका यह मार्ग कहाता है जो वामनजीके चरणसे निर्मल है ॥ ६ ॥

राजा—हे मातलि ! इसीसे मेरा आत्मा बाहर और भीतरकी इन्द्रियोंसहित प्रसन्न हुआ है। (रथके पहियोंको देखकर) अब तो हम मेघोंके मार्गमें उतर आये।

मातलि—कैसे जाना।

---

१ आकाश ७ मार्गोंमें विभक्त है। प्रत्येक मार्गमें भिन्न २ पवन वहती है; प्रथम मार्ग भूर्लोकमें आवह नाम वायु वहती है, वोही अन्तरिक्षमें चलकर मेघादिकोंको चलाती है। शेष ६ मार्ग स्वर्गमें हैं; इनमेंसे प्रथम मार्गमें प्रवाहपवन सूर्यको चलाती, दूसरेमें सम्वाहपवन चंद्रमाको घुमाती, तीसरेमें उद्वहपवन नक्षत्रोंको चलाती, चौथेमें विवाहपवन सातों ग्रहोंको चलाती, पांचवेंमें परिवहपवन सप्तर्षि और स्वर्गङ्गाको चलाती एवं छठेमें परवाहपवन ध्रुवको घुमाती है।

राजा—

अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भि-
हरिभिरचिरभासां तेजसा चानुलिप्तैः।
गतमुपरि घनानां वारिगर्भोदराणां
पिशुनयति रथस्ते सीकरक्लिन्ननेमिः ॥ ७ ॥

मातलिः—क्षणादायुष्मान्स्वाधिकारभूमौ वर्तिष्यते।

राजा—(अधोऽवलोक्य) वेगावतरणादाश्चर्यदर्शनः संलक्ष्यते मनुष्यलोकः। तथाहि।

शैलानामवरोहतीव शिखराडुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णस्वान्तरलीनतां विजहाति स्कन्धोदयात्पादपाः।
संतानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते ॥ ८ ॥

मातलिः—साधु दृष्टम्। (सबहुमानमवलोक्य) अहो, उदार-रमणीया पृथिवी।

राजा—जलके कणोंसे भीगा हुआ तुम्हारा रथही–अरोंके विवरोंमें होकर उडते हुए चातक [पपीहे] और चपलाकी चमकसे दमकते हुए घोडों द्वारा जलसे परिपूर्ण मेघोंके ऊपर चलना सूचित करता है॥७॥

मातलि—क्षणेकमें चिरंजीव अपने राज्यकी भूमिमें पहुँचते हैं।

राजा—(नीचेको देखकर) वेगसे उतरनेके कारण मनुष्यलोक आश्चर्यसा दीखता है। इसीसे।

भूमी ऊपरको उठे हुए पर्वतोंके शिखरोंपरसे मानो नीचेको खिसलती है, वृक्षोंके गुद्दे पत्तोंके आच्छादनको त्यागते हैं, दूर होनेके कारण सूखीसी नदियें विस्तारसे स्पष्ट दीखती हैं; और देखो यह मर्त्यलोक किसीसे उछालेकी समान मेरे निकट आता है ॥ ८ ॥

मातलि—भला देखा। (आदरपूर्वक देखकर) अहा! भूमी कैसी रमणीक है।

राजा—मातले, कतमोऽयं पूर्वापरसमुद्रावगाढः कनकरसनिस्यन्दी सांध्य इव मेघपरिघः सानुमानालोक्यते ।

मातलिः—आयुष्मन्, एष खलु हेमकूटो नाम किंपुरुषपर्वतस्तपःसंसिद्धिक्षेत्रम् । पश्य ।

स्वायंभुवान्मरीचेर्यः प्रबभूव प्रजापतिः ।
सुरासुरगुरुः सोऽत्र सपत्नीकस्तपस्यति ॥ ९ ॥

राजा—तेन ह्यनतिक्रमणीयानि श्रेयांसि । प्रदक्षिणीकृत्य भगवन्तं गन्तुमिच्छामि ।

मातलिः—प्रथमः कल्पः ।

(नाट्येनावतीर्णौ)

राजा—(सविस्मयम्) मातले,

उपोढशब्दा न रथाङ्गनेमयः
प्रवर्तमानं न च दृश्यते रजः ।
अभूतलस्पर्शतयानिरुद्धत-
स्तवावतीर्णोऽपि रथो न लक्ष्यते ॥ १० ॥

राजा—हे मातलि ! पूर्व और पश्चिमके समुद्रके मध्यमें कनकरसकी समान धारा बहानेवाला सायंकालीन मेघके अर्गलाकी तुल्य यह कौनसा पर्वत दीखता है ?

मातलि—महाराज ! किन्नरोंकी तपसिद्धिका क्षेत्र यह हेमकूटपर्वत है देखो ।

प्रजापतिके पुत्र मरीचिसे जो कश्यप प्रजापति हुए थे, देवदानवोंके गुरु वेही यहां अपनी स्त्रीसहित तप करते हैं ॥ ९ ॥

राजा—तो कल्याणमूर्तियोंका आतिक्रमण नहीं करना चाहिये । महाराजकी परिक्रमा करके चलनेकी इच्छा है ।

मातलि—यह मत बहुत उत्तम है ।

(दोनों उतरे)

राजा—(आश्चर्यसे) हे मातलि !

पृथिवीका स्पर्श न होनेके कारण रथकी चक्रधाराके उतरनेका शब्द

मातलिः—एतावानेव शतक्रतोरायुष्मतश्च विशेषः।

राजा—मातले, कतमस्मिन्प्रदेशे मारीचाश्रमः।

मातलिः—(हस्तेन दर्शयन्)

वल्मीकाग्रनिमग्नमूर्त्तिरुरसा संदष्टसर्पत्वचा
कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसंपीडितः।
अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं बिभ्रज्जटामण्डलं
यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः॥ ११॥

राजा—नमस्ते कष्टतपसे।

मातलिः—(संयतप्रग्रहं रथं कृत्वा) महाराज, एतावदितिपरिवर्धितमन्दारवृक्षं प्रजापतेराश्रमं प्रविष्टौ स्वः।

राजा—स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम्। अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि।

ज्ञात नहीं हुआ, और धूलीभी उडती नहीं दीखी, एवं उतरता हुआ तुम्हारा रथभी न दीखा॥ १०॥

मातलि—श्रीमान्के और इन्द्रके रथमें इतनाही तौ अन्तर है।

राजा—हे मातलि! किस स्थानमें कश्यपका आश्रम है।

मातलि—(हाथसे दिखाकर)

वल्मीक (बँमई) से आच्छादित देहवाला यह मुनि जहां हृदयके बीचमें सर्पकी निर्मोक डाले, और कण्ठमें जीर्ण लताके गुच्छोंसे अतिमात्र पीडित, कन्धोंपर्यंत लम्बायमान पक्षियोंके घोंसलोंसहित जटामण्डलको धारण करे ठूंठकी समान अचल सूर्यकी ओरको खडा है॥ ११॥

राजा—कठिन तपधारीको प्रणाम है।

मातलि—(रथका वेग रोककर) हे महाराज! अब हम उस आश्रममें आगये जो अदितिके सीचे हुए वृक्षोंसे सुशोभित है।

राजा—यह तौ स्वर्गसेभी अधिकतर निवृत्तिका स्थान है। अमृतके सरोवरमें स्नान करेकी समान हो रहा हूं।

मातलिः—(रथं स्थापयित्वा) अवतरत्वायुष्मान् ।

राजा—(अवतीर्य) मातले, भवान्कथमिदानीम् ।

मातलिः—संयन्त्रितो मया रथः । वयमप्यवतरामः । (तथा कृत्वा) इत आयुष्मन् । (परिक्रम्य) दृश्यन्तामत्रभवतामृषीणां तपोवनभूमयः ।

राजा—ननु विस्मयादवलोकयामि ।

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया ।
ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसंनिधौ संयमो
यत्कांक्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी॥१२॥

मातलिः—उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना । (परिक्रम्य । आकाशे) अये वृद्धशाकल्य, किमनुतिष्ठति भगवान्मारीचः । किं ब्रवीषि । दाक्षायण्या पतिव्रताधर्ममधिकृत्य पृष्टस्तस्यै महर्षिपत्नीसहितायै कथयतीति ।

मातलि--(रथ ठैराकर) उतारिये महाराज ।

राजा--(उतरकर) अब तुम क्या करोगे ।

मातलि--अब मैंने रथ रुकनेका यत्न कर दिया । हमभी उतरते हैं । (उतरकर) महाराज इधर आओ । (घूमकर) पूजनीय ऋषियोंकी तपोभूमी देखो ।

राजा--मैं आश्चर्यसे देखता हूं ।

सुंदर कल्पवृक्षोंवाले वनमें पवन पान कर प्राणरक्षा हो सक्ती है, सुवर्णकी तुल्य पुष्पोंकी परागसे पीले हुए जलसे संध्यावंदनादिक और स्नानकी क्रिया होती हैं, एवं रत्नोंकी शिलाओंके ऊपर बैठके ध्यान और देवाङ्गनाओंके निकटभी संयम (इंद्रियोंका दमन) हो सक्ता है, तथा अन्यान्य मुनिजन तपद्वारा जिसकी वाञ्छा करते हैं उसी वनमें यह मुनिजन तप कर रहे हैं ॥ १२ ॥

मातलि—सज्जनोंकी अभिलाषा ऊंची ही रहती है । (घूमकर

राजा—(कर्ण दत्त्वा) अये, प्रतिपाल्यावसरः खलु प्रस्तावः।

मातलिः—(राजानमवलोक्य) अस्मिन्नशोकवृक्षमूले तावदास्तामायुष्मान्, यावत्त्वामिन्द्रगुरवे निवेदयितुमन्तरान्वेषी भवामि।

राजा—यथा भवान्मन्यते। (इति स्थितः)

मातलिः—आयुष्मन्, साधयाम्यहम्। (इति निष्क्रान्तः)

राजा—(निमित्तं सूचयित्वा)

मनोरथाय नाशंसे किं बाहो स्पन्दसे वृथा।
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते॥ १३॥

(नेपथ्ये)

मा क्खु चावलं करेहिं। कहं गदो एव्व अत्तणो पकिदिं।
[मा खलु चापलं कुरु। कथं गत एवात्मनः प्रकृतिम्]

आकाशकी ओर) हे वृद्धशाकल्य ! भगवान् कश्यपजी क्या करते हैं। क्या कहा। दक्षकी पुत्रीने जो पतिव्रतधर्मका अधिकार करके प्रसङ्ग पूछा था ऋषिपत्नियों सहित उसे सुना रहे हैं।

राजा—(कान लगाकर) मुनियोंके पास अवसर पाकर जाना चाहिये।

मातलि—(राजाकी ओर देखकर) तबतक इस अशोकके तले आप विराजिये जबतक मैं आपके आनेका सन्देशा इन्द्रके पितासे कह आऊं।

राजा—जो तुम्हें सुहावे। (यों कहकर बैठ गया)

मातलि—मैं कार्य सिद्ध करता हूं। (यों कहकर चला गया)

राजा—(शकुन देखकर)

मुझे मनोरथ सिद्ध होनेकी कुछभी आशा नहीं, हे भुजा ! क्यों वृथा फड़कती है; प्रथम सुखका पराभव करनेसे निश्चय दुःखही होता है॥ १३॥

(नेपथ्यमें)

अरे चपलता मत करै। क्या अपनी बान नहीं छोडी।

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अभूमिरियमविनयस्य । को नु खल्वेष निषिध्यते । (शब्दानुसारेणावलोक्य । सविस्मयम्) अये, को नु खल्वयमनुबध्यमानस्तपस्विनीभ्यामबालसत्त्वो बालः ।

अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दक्लिष्टकेसरम् ।
प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्षति ॥ १४ ॥

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टकर्मा तपस्विनीभ्यां बालः)

बालः—जिम्भ सिंघ, दन्ताइं दे गणइस्सं । [जृम्भस्व सिंह, दन्तांस्ते गणयिष्ये]

प्रथमा—अविणीद, किं णो अपच्चणिव्विसेसाणि सत्ताणि विप्पअरेसि । हन्त, वड्ढइ दे संरम्भो । ठाणे क्खु इसिजणेण सव्वदमणो त्ति किदणामहेओ सि । [अविनीत, किं नोऽपत्यनिर्विशेषाणि सत्त्वानि विप्रकरोषि । हन्त, वर्धते तव संरम्भः । स्थाने खलु ऋषिजनेन सर्वदमन इति कृतनामधेयोऽसि]

राजा—(कान लगाकर) यह स्थान अविनयके अयोग्य है । यहां कौन निषेध करता है । (शब्दकी ओर देखकर । आश्चर्यसे) अहा ! दो तपस्विनियों द्वारा वांधा गया और वडे पराक्रमवाला यह कौन बालक है ।

जिसने माताके स्तनोंका आधाही दूध पिया है, जिसके केश धूलीमें मलगींजे हो रहे हैं, ऐसे सिंहके बच्चेको खेलनेके लिये बरजोरी घसीटे लाता है ॥ १४ ॥

(इतनेहीमें पूर्वोक्त कर्म करता और तपस्विनियोंसे रोका हुआ बालक आता है)

बालक—हे सिंह ! मुख फैला, मैं तेरे दांत गिनूंगा ।

पहिली—अरे अन्यायी ! हमारी संतानसे भी विशेष इन जीवोंको क्यों सताता है । हाय ! तेरा साहस बढताही है । ऋषियोंने जो सर्वदमन नाम रक्खा है सो योग्यही है ।

राजा—(आत्मगतम्) किं नु खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः। नूनमनपत्यता मां वत्सलयाति।

द्वितीया—एसा क्खु केसरिणी तुमं लंघेदि जइ से पुत्तअं ण मुञ्चेसि। [एषा खलु केसरिणी त्वां लंघयिष्याति यदि तस्याः पुत्रकं न मुञ्चसि]

बालः—(सस्मितम्) अह्लहे, बलिअं क्खु भीदो ह्मि। (इत्यधरं दर्शयति) [अहो, बलीयः खलु भीतोऽस्मि]

राजा—

महतस्तेजसो बीजं बालोऽयं प्रतिभाति मे।
स्फुलिङ्गावस्थया वह्निरेधापेक्ष इव स्थितः॥ १९॥

प्रथमा—वच्छ, एदं बालमिइन्दअं मुञ्च। अवरं दे कीलणअं दाइस्सं। [वत्स, एनं बालमृगेन्द्रं मुञ्च। अपरं ते क्रीडनकं दास्यामि]

बालः—कहिं। देहि णं। (इति हस्तं प्रसारयाति) [कुत्र। देह्येतत्]

राजा—(आपही आप) न जाने इस बालकके ऊपर मेरा मन औरस पुत्रकी समान स्नेह करता है। हो न हो इसमें मेरे संतानका न होनाही कारण है।

दूसरी—यह वाघन तेरे ऊपर दौड पडेगी, यदि तू इसके बच्चेको न छोडेगा तौ।

बालक—(मुसकाकर) अहाहा! वाघनका मुझे ऐसा ही भय है। (यौं कहकर ओठ विचकाता ह)

राजा—

यह बालक मुझे प्रभूत तेजका मूल दीखता है, यह ऐसा स्थित है मानो ईंधनकी इच्छा करता प्रज्वलित अग्नि खडा होता है॥ १९॥

पहली—हे पुत्र! इस सिंहके बच्चेको छोड दे। मैं और तुझे खिलौना दूंगी।

बालक—कहां है। ला देदे। (यह कहकर हाथ पसारता है)

राजा—(बालस्य हस्तमवलोक्य) कथं चक्रवर्तिलक्षणमप्यनेन धार्यते । तथा ह्यस्य

प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो
विभाति जालग्रथिताङ्गुलिः करः ।
अलक्ष्यपत्रान्तरमिद्धरागया
नवोषसा भिन्नमिवैकपङ्कजम् ॥ १६ ॥

द्वितीया—सुव्वदे, णसक्को एसो वाआमेत्तेण विरमाविदुं । गच्छ तुमं । ममकेरए उडए मक्कण्डेअस्स इसिकुमारअस्स वण्णचित्तिदो मित्तिआमोरओ चिट्ठदि । तं से उबहर [सुव्रते, न शक्य एष वाचामात्रेण विरमयितुम् । गच्छ त्वम् । मदीय उटजे मार्कण्डेयस्यर्षिकुमारस्य वर्णचित्रितो मृत्तिकामयूरस्तिष्ठति । तमस्योपहर]

प्रथमा—तह । (इति निष्क्रांता) [तथा]

बालः—इमिणा एव्व दाव कीलिस्सं । (इति तापसीं विलोक्य हसति) [अनेनैव तावत्क्रीडिष्यामि]

राजा—(बालकका हाथ देखकर) क्या यह तौ चक्रवर्त्तीके लक्षण भी धारण करता है ।

खिलौनेके लोभसे फैला हुआ हाथ जालकी समान गछी उगलियोंसे सुशोभित होने लगा, मानो सूर्यने तुरन्तही रक्तकमलको खिलाया है॥१६॥

दूसरी—हे सुवृत्ता ! यह बातोंहीसे नहीं बहलेगा । जा तू मेरी पर्णकुटीमेंसे महर्षिकुमार मार्कण्डेयके खेलनेका मिट्टीका मोर रंगसे चिता पुता रक्खा है वोह इसे लादे ।

पहली—बहुत अच्छा । (यों कहकर चली गयी)

बालक—तबतक मैं इसीसे खेलूंगा । (यों कहकर तपस्विनीको देखके हँसता है)

राजा—स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै ।

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै-
रव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् ।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥ १७ ॥

तापसी—होदु । ण मं अअं गणेदि । (पार्श्वमवलोकयति) को एत्थ इसिकुमाराणं । (राजानमवलोक्य) भद्दमुह, एहि दाव । मोएहि इमिणा दुम्मोअहत्थग्गहेण डिम्भलीलाए बाहीअमाणं बालमिइन्दअं [भवतु न मामयं गणयति । कोऽत्र ऋषिकुमाराणाम् । भद्रमुख, एहि तावत् । मोचयानेन दुर्मोकहस्तग्रहेण डिम्भलीलया बाध्यमानं बालमृगेन्द्रम्]

राजा—(उपगम्य । सस्मितम्) अयि भो महर्षिपुत्र,

एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना
संयमः किमिति जन्मतस्त्वया ।
सत्वसंश्रयसुखोऽपि दूष्यते
कृष्णसर्पशिशुनेव चन्दनम् ॥ १८ ॥

राजा—इसे खिलानेको मेरा जी ललचाता है ।

कलीके समान विना बातोंके हँसना, लडखडाते वचन बोलना, दौडकर गोदमें जाना, इस प्रकार क्रीडा करनेवाले बालकोंको खिलानेवालों और उनके अंगकी धूलीसे अपने शरीरको मैला करनेवाले पुरुषोंको धन्य है ॥ १७ ॥

तापसी—जो हो । यह मुझे तौ गिनताही नहीं । (इधर उधर देखकर) यहां कोई ऋषिकुमारोंमेंसे है । (राजाको देखकर) हे शुभदर्शन ! अब तुम्ही आओ । इस बलिष्ठबालकके हाथसे बालखेलमें पकडनेसे सिंहके बच्चेको छुडाओ ।

राजा—(धोरे जाकर । मुसकाके) हे महर्षिकुमार ! आश्रमके विरुद्ध इस आचरणसे पूर्वपुरुषोंके जीवरक्षारूप संयमको जन्महीसे

तापसी—भद्दमुह, ण हु अअं इसिकुमारओ। [भद्रमुख, न खल्वयमृषिकुमारः]

राजा—आकारसदृशं चेष्टितमेवास्य कथयति। स्थानप्रत्ययात्तु वयमेवं तर्किणः। (यथाभ्यर्थितमनुतिष्ठन्बालस्पर्शमुपलभ्य। आत्मगतम्)

अनेन कस्यापि कुलांकुरेण
स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम्।
कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्या-
द्यस्यायमंकात्कृतिनः प्ररूढः ॥ १९ ॥

तापसी—(उभौ निर्वर्ण्य) अच्छरिअं अच्छरिअं। [आश्चर्यमाश्चर्यम्]

राजा—आर्ये, किमिव।

तापसी—इमस्स बालअस्स दे वि संवादिणी आकिदि त्ति विह्माविद ह्मि। अपरिइदस्स वि दे अप्पडिलोमो संवुत्तो त्ति। [अस्य बालस्य तेऽपि संवादिन्याकृतिरिति विस्मापितास्मि। अपरिचितस्यापि तेऽप्रतिलोमः संवृत्त इति]

तुम क्यों दूषित करते हो, जैसे--काले सर्पका बच्चा चन्दनको दूषित करता है ॥ १८ ॥

तपस्विनी--हे शुभदर्शन ! यह ऋषिकुमार नहीं है।

राजा--इसके आकारकी समान चेष्टाही कहती है ! स्थानके प्रत्ययसे हमें सन्देह था। (मनचीता कार्य करता बालकके स्पर्शका सुख लेकर। आपही आप)

न जाने किस कुलके अंकुर इस बालकने एक वार स्पर्श करके ऐसा सुख दिया है, उसके चित्तमें कितना आनन्द करता होगा कि-जिस सुकृतिके अंगसे यह उत्पन्न हुआ है ॥ १९ ॥

तपस्विनी--(दोनोंकी श्लाघा करके) बडा आश्चर्य है।

राजा—हे बडभागिनी ! कैसा आश्चर्य।

तपस्विनी—इस बालककी और तेरी आकृति समान है, इससे विस्मित हुई हूं। और तुम अनपहिचानकाभी इसने कहना मान लिया।

राजा—(बालकमुपलालयन्) न चेन्मुनिकुमारोऽयम्, अथ कोऽस्य व्यपदेशः।

तापसी—पुरुवंसो। [पुरुवंशः]

राजा—(आत्मगतम्) कथमेकान्वयो मम। अतः खलु मदनुकारिणमेनमत्रभवती मन्यते। अस्त्येतत्पौरवाणामन्त्यं कुलव्रतम्।

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं
क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्।
नियतैकपतिव्रतानि पश्चा-
त्तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम् ॥ २० ॥

(प्रकाशम्) न पुनरात्मगत्या मानुषाणामेष विषयः।

तापसी—जह भद्दमुहो भणादि अच्छरासंबन्धेण इमस्स जणणी एत्थ देवगुरुणो तवोवणे पसूदा। [यथा भद्रमुखो भणत्यप्सरःसंबन्धेनास्य जनन्यत्र देवगुरोस्तपोवने प्रसूता]

राजा--(बालकको खिलाता हुआ) यदि यह ऋषिकुमार नहीं है तो इसका कौनसा कुल है।

तपस्विनी--पुरुवंश।

राजा--(आपही आप) क्या इसका और हमारा एक वंश है। अत एव यह भगवती इसे मेरी अनुहारका बताती है। पुरुवंशियोंके कुलका अन्त्यम व्रत है।

जो राजा लोग प्रथम भोगविलासयुक्त घरोंमें भूमिकी रक्षाके लिये निवास करते हैं, पीछेसे उन्हीं राजाओंके पतिव्रता पत्नीसहित वृक्षोंके मूल घर हो जाते हैं ॥ २० ॥

(प्रगट) परन्तु यह स्थान ऐसा नहीं जहां मनुष्य अपने बलसे आय सके।

तपस्विनी—आप सत्य कहते हैं, अप्सराके सम्बंधसे इसकी माताने यहां कश्यपजीके तपोवनमें इसे जना है।

राजा—(अपवार्य) हन्त, द्वितीयमिदमाशाजननम् । (प्रकाशम्) अथ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी ।

तापसी—को तस्स धम्मदारपरिच्चाइणो णाम संकीतिदुं चिन्तिस्सदि [कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम संकीर्तयितुं चिन्तयिष्यति]

राजा—(स्वगतम्) इयं खलु कथा मामेव लक्ष्यीकरोति । यदि तावदस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छामि । (विचिन्त्य) अथवा नार्यः परदारपृच्छाव्यवहारः ।

(प्रविश्य मृण्मयूरहस्ता)

तापसी—सव्वदमण, सउन्दलावण्णं पेक्ख । [सर्वदमन, शकुन्तलावण्यं प्रेक्षस्व]

बालः—(सदृष्टिक्षेपम्) कहिं वा मे अज्जू । [कुत्र वा मम माता]

उभे—णामसारिस्सेण वञ्चिदो माउवच्छलो । [नामसादृश्येन वञ्चितो मातृवत्सलः]

राजा—(आपही आप) हाय ! यह दूसरी आशा उत्पन्न हुई । (प्रगट) भला इसकी माता किस राजर्षिकी स्त्री है ।

तपस्विनी—उस अपनी धर्मपत्नीको परित्याग करनेवालेका नाम कौन लेगा ।

राजा—(मनही मनमें) यह कथा तो मेरेही ऊपर लगती है । अब इस बालककी माताका नाम पूछूं । (विचार कर) पराई स्त्रीका पूछना गछना अन्याय है ।

(आयकर मिट्टीका मोर हाथमें लिये)

तपस्विनी—हे सर्वदमन ! शकुन्तलावण्यको देख ।

बालक—(देखकर) मेरी माता शकुन्तला कहां है ।

दोनों—यह माताका प्यारा नामकी सदृशतासे धोखा खा गया ।

---

१ अर्थात्—पक्षीकी सुन्दरता. श्लेषवक्रोक्तिसे यह अर्थ निकलता है कि–शकुन्तलाका वर्ण देख ।

द्वितीया—वच्छ, इमस्स मित्तिआमोरअस्स रम्मत्तणं देक्ख त्ति भणिदो सि । [वत्स, अस्य मृत्तिकामयूरस्य रम्यत्वं पश्येति भणितोऽसि]

राजा—(आत्मगतम्) किंवा शकुन्तलेत्यस्य मातुराख्या । सन्ति पुनर्नामधेयसादृश्यानि । अपि नाम मृगतृष्णिकेव नाम-मात्रप्रस्तावो मे विषादाय कल्पते ।

बालः—अज्जुए, रोअदि मे एसो भद्दमोरओ । (इति क्रीडन-कमादत्ते) [मातः, रोचते म एष भद्रमयूरः]

प्रथमा—(विलोक्य । सोद्वेगम्) अम्हहे,रक्खाकरण्डअं से मणि-बन्धे ण दीसदि । [अहो, रक्षाकरण्डकमस्य मणिबन्धे न दृश्यते]

राजा—अलमलमावेगेन । नन्विदमस्य सिंहशावविमर्दात्परि-भ्रष्टम् । (इत्यादातुमिच्छति)

उभे—मा क्खु एदं अवलम्बिअ । कहं गहीदं णेण । (इति विस्मयादुरोनिहितहस्ते परस्परमवलोकयतः) मा खल्विदमवलम्बय । कथं गृहीतमनेन ।

दूसरी—पुत्र ! यह कहा था कि इस मिट्टीके मोरकी सुंदरता देख ।

राजा—(मनही मनमें) क्या इसकी माताका शकुंतला नाम है । अथवा एक नामके वहुतसे होते हैं । कहीं मुझे दुःख देनेके लिये मृगतृष्णाकी समान उच्चारण न बनाया हो ।

बालक—हे मइया ! यह सुंदर मयूर मुझे अति सुहावना लगता है । (यौं कहकर खिलौना लेता है)

पहिली—(देखकर । घवराके) हाय ! इसकी बाँहमें रक्षाबंधन नहीं दीखता ।

राजा—घवडानेसे क्या है । सिंहके बच्चेसे खेलते समय यह गिर गया था । (यह कर लियाही चाहता है)

दोनों—इसे मत उठाओ । हाय इसने क्यों उठा लिया (यौं कहकर आश्चर्यसे छातीपर हाथ रखके एक दूसरीकी ओर देखती हैं)

राजा—किमर्थं प्रतिषिद्धाः स्मः ।

प्रथमा—सुणादु महाराओ । एसा अवराजिदा णाम ओसही इमस्स जातकम्मसमए भअवदा मारीएण दिण्णा । एदं किल मादापिदरो अप्पाणं च वज्जिअ अवरो भूमिपडिदं ण गेण्हादि । [शृणोतु महाराजः । एषापराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता । एतां किल मातापितरावात्मानं च वर्जयित्वापरो भूमिपतितां न गृह्णाति]

राजा—अथ गृह्णाति ।

प्रथमा—तदो तं सप्पो भविअ दंसइ । [ततस्तं सर्पो भूत्वा दशति]

राजा—भवतीभ्यां कदाचिदस्याः प्रत्यक्षीकृता विक्रिया ।

उभे—अणेअसो । [अनेकशः]

राजा—(सहर्षम् । आत्मगतम्) कथमिव संपूर्णमपि मे मनोरथं नाभिनन्दामि । (इति बालं परिष्वजते)

राजा—हमें क्यों वर्जा था ।

पहली—सुनिये महाराज ! यह अपराजिता नाम औषधि है, इसका जातकर्म करते समय भगवान् कश्यपजीने दी थी । इस भूमी गिरीको माता पिता और अपने अतिरिक्त दूसरा नहीं ग्रहण कर सक्ता ।

राजा—और जो ग्रहण कर ले ।

पहली—तब सर्प होकर डस लेता है ।

राजा—आप दोनोंने कभी यह विकार होते देखा है ।

दोनों—अनेक वार ।

राजा—(प्रसन्न होकर । आपही आप) अब तो सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हुआ अब आनन्द क्यों न मनाऊं । (बालकको आलिंगन करता है)

द्वितीया—सुव्वदे, एहि । इमं वुत्तन्तं णिअमव्वावुडाए सउन्दलाए णिवेदेह्म । [सुव्रते, एहि । इमं वृत्तान्तं नियमव्यापृतायै शकुन्तलायै निवेदयावः]

(इति निष्क्रान्ते)

बालः—मुञ्च मं । जाव अज्जूए सआसं गमिस्सं । [मुञ्च माम् । यावन्मातुः सकाशं गमिष्यामि]

राजा—पुत्रक, मया सहैव मातरमभिनन्दिष्यासि ।

बालः—मम क्खु तादो दुस्सन्दो । ण तुमं । [मम खलु तातो दुष्यन्तः । न त्वम्]

राजा—(सस्मितम्) एष विवाद एव प्रत्याययति ।

(ततः प्रविशत्येकवेणीधरा शकुंतला)

शकुन्तला—विआरकाले वि पकिदित्थं सव्वदमणस्स ओसहिं सुणिअ ण मे आसा आसि अत्तणो भाअहेएसु । अहवा जह साणुमदीए आचक्खिदं तह संभावीआदि एदं । [विकारकालेऽपि प्रकृतिस्थां सर्वदमनस्यौषधिं श्रुत्वा न म आशासीदात्मनो भागधेयेषु । अथवा यथा सानुमत्याख्यातं तथा संभाव्यत एतत्]

दूसरी—हे सुव्रते! आओ । यह शुभ समाचार नियमवती शकुंतलाको सुनावें ।

(यों कहकर चली गयीं)

बालक—छोडो मुझे । अब मैं अपनी माताके पास जाऊंगा ।

राजा—हे पुत्र ! मेरेही साथ चलकर माताको सुख देना ।

बालक—सुनाहै मेरे पिता तो दुष्यन्त हैं । तुम नहीं ।

राजा—(मुसकाकर) यह विवादभी मुझे विश्वास कराता है ।

(इतनेहीमें एक जूडा धारण करे शकुंतला आती है)

शकुंतला—विकारके समयभी सर्वदमनकी औषधिका रूप न बदलना सुनकरभी अपने भाग्यके ऊपर विश्वास नहीं । चाहे जो कुछ सानुमतीने कहा था वोह सच्चा हो गया हो ।

राजा—(शकुंतलां विलोक्य) अये, सेयमत्रभवती शकुन्तला यैषा

वसने परिधूसरे वसाना
　नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः ।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला
　मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ॥ २१ ॥

शकुन्तला—(पश्चात्तापविवर्णं राजानं दृष्ट्वा) ण क्खु अज्जउत्तो विअ । तदो को एसो दाणिं किदरक्खामङ्गलं दारअं मे गत्तसंसग्गेण दूसेदि । [न खल्वार्यपुत्र इव । ततः क एष इदानीं कृतरक्षामङ्गलं दारकं मे गात्रसंसर्गेण दूषयति]

बालः—(मातरमुपेत्य) अज्जुए, एसो को वि पुरिसो मं पुत्त त्ति आलिङ्गदि । [मातः, एष कोऽपि पुरुषो मां पुत्र इत्यालिङ्गति]

राजा—प्रिये, क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूलपरिणामं संवृत्तम्, यदहमिदानीं त्वया प्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि ।

राजा—(शकुंतलाको देखकर) आहा ! यह प्यारी शकुंतला है, जो यह

मैले कुचैले वस्त्र धारण करे, नियमसे दुर्बल देहवाली और एक वेणी [चोटी] धारण करे शुद्धस्वभाववाली मुझ अति निर्दयीके अति वियोगके दुःखको धारण कर रही है ॥ २१ ॥

शकुंतला—(पश्चात्तापसे विवर्ण हुए राजाको देखकर) यह तो पतिसे नहीं है । तो फिर कौन है जिसने रक्षाबंधन धारण करे हुए मेरे पुत्रको स्पर्शसे दूषित कर दिया ।

बालक—(माताके पास जाकर) हे माता ! यह कोई पुरुष मुझे पुत्र कहकर आलिंगन करता है ।

राजा—हे प्यारी ! जो मैंने तेरे साथ निठुरता करी उसका परिणाम भला हुआ, अब मैं देखता हूं कि–तूने मुझे पहचानलिया ।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) हिअअ, अस्सस अस्सस। परिच्च-त्तमच्छरेण अणुअम्पिअ ह्मि देव्वेण। अज्जउत्तो क्खु एसो। [हृदय, आश्वसिहि आश्वसिहि। परित्यक्तमत्सरेणानुकम्पितास्मि दैवेन। आर्यपुत्रः खल्वेषः]

राजा—प्रिये,

स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्ट्या प्रमुखे स्थितासि मे सुमुखि।
उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम् ॥ २२ ॥

शकुन्तला—(सहर्षम्) जेदु जेदु अज्जउत्तो। (इत्यर्धोक्ते बाष्पकण्ठी विरमति) [जयतु जयत्वार्यपुत्रः]

राजा—सुंदरि,

बाष्पेण प्रतिषिद्धेऽपि जयशब्दे जितं मया।
यत्ते दृष्टमसंस्कारपाटलोष्ठपुटं मुखम् ॥ २३ ॥

बालः—अज्जुए, को एसो। [मातः, क एषः]

शकुन्तला—वच्छ, दे भाअहेआइं पुच्छेहि। [वत्स, ते भागधेयानि पृच्छ]

शकुंतला—(आपही आप) हे हृदय! धीर धर। विधाताने ईर्ष्या त्याग मेरे ऊपर कृपा करी है। यह तो मेरे स्वामीही हैं।

राजा—हे प्यारी!

स्मरणसे अज्ञानरूप राहुके नष्ट होनेपर धन्य है कि—हे सुमुखि! तू मेरे सन्मुख खडी है; ग्रहण होनेके अंतमें चंद्रमासे रोहिणीका योग होता है ॥ २२ ॥

शकुंतला—(प्रसन्न होकर) आर्यपुत्रकी जय हो। (ऐसे आधाही कहकर गद् २ हो चुप रही)

राजा—हे सुंदरि!

कण्ठ रुक जानेके कारण वर्जे गये भी जयशब्द कहनेसे मेरी जय होगयी; जो कि—अंगरागरहित रक्त ओष्ठोंवाले तेरे मुखका दर्शन हुआ ॥ २३ ॥

बालक—माता! यह कौन है।

शकुंतला—पुत्र! अपने भाग्यसे पूछ।

राजा—(शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य)

सुतनु हृदयात्प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते।
किमपि मनसः संमोहो मे तदा बलवानभूत्।
प्रबलतमसामेवंप्रायाः शुभेषु प्रवृत्तयः
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया ॥ २४ ॥

शकुन्तला—उट्ठेदु अज्जउत्तो। णूणं मे सुअरिअप्पडिबन्धअं पुराकिदं तेसु दिअहेसु परिणामसुहं आसि जेण साणुक्कोसो वि अज्जउत्तो मइ विरसो संवुत्तो। [उत्तिष्ठत्वार्यपुत्रः। नूनं मे सुचरितप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणामसुखमासीद्येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः]

(राजोत्तिष्ठति)

शकुन्तला—अह कहं अज्जउत्तेण सुमरिदो दुक्खभाई अअं जणो। [अथ कथमार्यपुत्रेण स्मृतो दुःखभाग्ययं जनः]

राजा—उद्धृतविषादशल्यः कथयिष्यामि।

राजा—(शकुंतलाके चरणोंमें प्रणाम करके)

हे शोभनाङ्गि ! अब तू अपने हृदयसे तिरस्कारके पश्चात्तापको दूर कर दे, उस समय मेरे मनमें बडा भारी अज्ञान हो गया था; अज्ञानियोंकी प्रायः शुभ कार्योंमें ऐसी ही औंधी बुद्धियें हो जाती हैं, अंधा मनुष्य शिरके ऊपर रक्खी हुई मालाको सर्प जानके शिर पीट डालता है ॥ २४ ॥

शकुंतला—प्राणनाथ ! उठो। उस समय निश्चय मेरे पूर्वजन्मके पाप उदय होगये थे, जिससे कि–मेरे दयालु पति निर्मोही हो गये थे।

(राजा उठता है)

शकुंतला—प्राणनाथको इस दुखियाकी सुध कैसे आयी ?

राजा–संतापका कांटा निकल जानेपर कहूंगा।

मोहान्मया सुतनु पूर्वमुपेक्षितस्ते
यो वाष्पबिन्दुरधरं परिबाधमानः ।
तं तावदाकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य
वाष्पं प्रमृज्य विगतानुशयो भवेयम् ॥ २९ ॥

(इति यथोक्तमनुतिष्ठति)

शकुन्तला—(नाममुद्रां दृष्ट्वा) अज्जउत्त, एदं ते अङ्गुलीअअं । [आर्यपुत्र, इदं तेऽङ्गुलीयकम्]

राजा—अस्मादंगुलीयोपलम्भात्खलु स्मृतिरुपलब्धा ।

शकुन्तला—विसमं किदं णेण जं तदा अज्जउत्तस्स पच्चअकाले दुल्लहं आसि [विषमं कृतमनेन यत्तदार्यपुत्रस्य प्रत्ययकाले दुर्लभमासीत्]

राजा—तेन ऋतुसमवायचिह्नं प्रतिपद्यतां लता कुसुमम् ।

शकुन्तला—ण से विस्ससामि । अज्जउत्तो एव्व णं धारेदु । [नास्य विश्वसिमि । आर्यपुत्र एवैतद्धारयतु]

हे सुदरि प्रथम मैंने अज्ञानवश हो तेरे अधरके ऊपर गिरे हुए अश्रुबिंदुकी उपेक्षा कर दी थी, आज तिर्छी बरौनियोंवाले तेरे नेत्रोंके ऊपर लगे तेरे आंसूको पोंछकर मिटाऊंगा ॥ २९ ॥

(यौं कहकर आंसू पौछता है)

शकुंतला—(नाम खुदी मूँदरीको देखकर) प्राणपति ! यह वोही अँगूठी है ।

राजा—इसीके मिलनेसे ठीक स्मृति हुई थी ।

शकुंतला—इसने बुरा करा जो आपको विश्वास कराते समय दुर्लभ हो गयी ।

राजा—अत एव ऋतुकालमें जैसे लता पुनः पुष्प धारण करती है इसी प्रकार तू भी फिर पहर ले ।

शकुंतला—मैं इसका विश्वास नहीं करती आपही पहरे रहो ।

(ततः प्रविशति मातलिः)

मातलिः—दिष्ट्या धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान्वर्धते।

राजा—अभूत्संपादितस्वादुफलो मे मनोरथः। मातले, न खलु विदितोऽयमाखण्डलेन वृत्तान्तः स्यात्।

मातलिः—(सस्मितम्) किमीश्वराणां परोक्षम्। एत्वायुष्मान्। भगवान्मारीचस्ते दर्शनं वितरति।

राजा—शकुन्तले, अवलम्ब्यतां पुत्रः। त्वां पुरस्कृत्य भगवन्तं द्रष्टुमिच्छामि।

शकुन्तला—हिरिआमि अज्जउत्तेण सह गुरुसमीवं गन्तुं। [जिह्रेम्यार्यपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम्]

राजा—अप्याचरितव्यमभ्युदयकालेषु। एह्येहि।

(सर्वे परिक्रामन्ति)

(इतनेहीमें मातलि आता है)

मातलि—बडे हर्षकी बात है कि-धर्मपत्नीके समागम और पुत्रका मुख देखनेसे आपकी वृद्धि हुई।

राजा—आज मेरा मनोरथ स्वादिष्ठ फलयुक्त हुआ। हे मातलि! यह वृत्तान्त इन्द्रको तौ विदित नहीं हुआ होगा।

मातलि—(मुसकाकर) देवताओंसे क्या छिपा है। अब आप आइये भगवान् कश्यप आपको दर्शन देंगे।

राजा—हे शकुन्तला! पुत्रको पकड। मैं तुझे अगाडी करके भगवान्को देखा चाहता हूं।

शकुन्तला—आपके साथ गुरुजनोंके सन्मुख जाती लजाती हूं।

राजा—ऐसे शुभ अवसरपर ऐसा ही करना कर्त्तव्य है। आओ २।

(सब चलते हैं)

(ततः प्रविशत्यादित्या सार्धमासनस्थो मारीचः)

मारीच—(राजानमवलोक्य) दाक्षायणि,

पुत्रस्य ते रणशिरस्ययमग्रयायी
दुष्यन्त इत्यभिहितो भुवनस्य भर्ता ।
चापेन यस्य विनिवर्तितकर्म जातं
तत्कोटिमत्कुलिशमाभरणं मघोनः ॥ २६ ॥

अदितिः—संभावणीआणुभावा से आकिदी [संभावनीयानुभावास्याकृतिः]

मातलिः—आयुष्मन्, एतौ पुत्रप्रीतिपिशुनेन चक्षुषा दिवौकसां पितरावायुष्मन्तमवलोकयतः । तावुपसर्प ।

राजा—मातले, एतौ

प्राहुर्द्वादशधास्थितस्य मुनयो यत्तेजसः कारणं
भर्तारं भुवनत्रयस्य सुषुवे यद्यज्ञभागेश्वरम् ।
यस्मिन्नात्मभवः परोऽपि पुरुषश्चक्रे भवायास्पदं
द्वन्द्वं दक्षमरीचिसंभवमिदं तत्स्रष्टुरेकान्तरम् ॥ २७ ॥

(तदनन्तर अदितिसहित आसनपर बैठे कश्यपका प्रवेश)

कश्यपजी—(राजाकी ओर देखकर) हे दक्षकुमारि !

संग्राममें तेरे पुत्रका अग्रगामी और मर्त्यलोकका पालनकर्त्ता प्रसिद्ध दुष्यन्त यही है, जिसके कि–धनुषसे अपने कर्मको त्यागकर इन्द्रका धनुष शोभामात्रको रह गया है ॥ २६ ॥

अदिति—बडाई तौ इसके रूपहींसे दीखती है।

मातलि—हे चिरंजीव ! यह देवताओंके माता पिता श्रीमान्‌की पुत्रकी समान प्रीतिभरी दृष्टिसे निहार रहे हैं । इनके पास चलो ।

राजा—हे मातलि ! इन्हीं दोनोंको

बारह प्रकार [रूप] से स्थित हुए तेज [सूर्य] उत्पत्ति कहते हैं, इन्हींने देवराज और चौदह भुवनके पालन कर्त्ता इन्द्रको उत्पन्न किया है, जिसमें परम पुरुष भगवान्‌ने वामन अवतारमें उत्पत्तिस्थान बनाया था । येहीं मरीचिके पुत्र और दक्षकी पुत्री एवं ब्रह्माके नाती नातिन हैं ॥ २७ ॥

मातलिः—अथ किम्।

राजा—(उपगम्य) उभाभ्यामपि वासवानुयोज्यो दुष्यन्तः प्रणमति।

मारीचः—वत्स, चिरं जीव। पृथिवीं पालय।

अदितिः—वच्छ, अप्पडिरहो होहि [वत्स, अप्रतिरथो भव]

शकुन्तला—दारअसहिदा वो पादवन्दणं करेमि [दारकसहिता वां पादवन्दनं करोमि]

मारीचः—वत्से,

आखण्डलसमो भर्ता जयन्तप्रतिमः सुतः।
आशीरन्या न ते योग्या पौलोमीसदृशी भव ॥ २८ ॥

अदितिः—जादे, भत्तुणो अभिमदा होहि। अवस्सं दीहाऊ वच्छओ उहअकुलणन्दणो होदु। उवविसह [जाते, भर्तुरभिमता भव। अवश्यं दीर्घायुर्वत्स उभयकुलनन्दनो भवतु। उपविशत]

(सर्वे प्रजापतिमभित उपविशंति)

मातलि—हां येही हैं।

राजा—(पास जाकर) इन्द्रका आज्ञाकारी यह दुष्यन्त आप दोनोंको प्रणाम करता है।

कश्यपजी—पुत्र। चिर जिओ और भूमीका पालन करो।

अदिति—बेटा ! तेरे रथकी गति सर्वत्र हो।

शकुन्तला—पुत्रसहित मैं भी आपके चरणोंमें प्रणाम करती हूं।

कश्यपजी—हे पुत्री !

तेरा पति इन्द्रकी तुल्य, पुत्र जयंतकी समान और तू इंद्राणीकी समान हो; इसके अतिरिक्त और क्या आशीर्वाद दूं ॥ २८ ॥

अदिति—हे बेटी ! पतिकी प्यारी हो। यह पुत्र अवश्य चिरायु होकर दोनों कुलको आनन्द दे। बैठो।

(सब प्रजापतिके सन्मुख बैठते हैं)

मारीचः—(एकैकं निर्दिशन्)

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान् ।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम् ॥ २९ ॥

राजा—भगवन्, प्रागभिप्रेतासिद्धिः । पश्चाद्दर्शनम् । अतोऽपूर्वः खलु वोऽनुग्रहः । कुतः ।

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं
घनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः ।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रम-
स्तव प्रसादस्य पुरस्तु संपदः ॥ ३० ॥

मातलिः—एवं विधातारः प्रसीदन्ति ।

राजा—भगवन्, इमामाज्ञाकरीं वो गान्धर्वेण विवाहविधिनोपयम्य कस्यचित्कालस्य बन्धुभिरानीतां स्मृतिशैथिल्यात्प्रत्यादिशन्नपराद्धोऽस्मि तत्रभवतो युष्मत्सगोत्रस्य कण्वस्य । पश्चादङ्गुलीयकदर्शनादूढपूर्वां तद्दुहितरमवगतोऽहम् । तच्चित्रमिव मे प्रतिभाति

कश्यपजी—(एक एककी ओर देखकर)
बडे हर्षकी बात है–पतिव्रता शकुंतला, और यह पवित्र संतान एवं तू इन तीनोंका ऐसा समागम हुआ है जैसे श्रद्धा, धन और विधिका संयोग होता है ॥ २९ ॥

राजा—भगवन् ! मनोरथ प्रथमही सफल हो गया । और आपका दर्शन पीछे हुआ अतः आपका अनुग्रह अपूर्व है । कारण कि ।

प्रथम फूल उगता है तदनंतर फल आता है, पहले बादल आते हैं पीछे जल वरषता है; निमित्त और नैमित्तिकका यही क्रम है, परंतु आपके अनुग्रहसे सम्पत्तियें प्रथमही मिल जाती हैं ॥ ३० ॥

मातलि—प्रजापति इसी प्रकार पसीजते हैं ।

राजा—हे भगवन् ! इस आपकी किंकरीको मैंने गांधर्वविवाहकी विधिसे विवाहा था, कुछ समय पीछे भाई बांधवोंसे लाई गईको सुध न रहनेके कारण मैंने तिरस्कार किया अतः आपके सगोत्री श्रीमान्

यथा गजो नेति समक्षरूपे
तस्मिन्नपक्रामति संशयः स्यात्।
पदानि दृष्ट्वा तु भवेत्प्रतीति-
स्तथाविधो मे मनसो विकारः ॥ ३१ ॥

मारीचः—वत्स, अलमात्मापराधशङ्कया। संमोहोऽपि त्वय्यनुपपन्नः। श्रूयताम्।

राजा—अवहितोऽस्मि।

मारीचः—यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात्प्रत्यक्षवैक्लव्यां शकुन्तलामादाय मेनका दाक्षायणीमुपगता तदैव ध्यानादवगतोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा नान्यथेति। स चायमङ्गुलीयकदर्शनावसानः।

राजा—(सोच्छ्वासम्।) एष वचनीयान्मुक्तोऽस्मि।

कण्वका अपराधी हू। पीछे अँगूठीको देख व्याही हुई उनकी कन्याको पहचान लिया। यह मुझे आश्चर्यसा दीखता है।

जैसे हाथी सन्मुख आने पर कह दे कि–यह हाथी नहीं है, जब वोह चले तब संदेह हो [अर्थात्–यह हाथी है वा नहीं] पीछेसे चरणचिह्न देखकर हाथीका निश्चय होय इसी प्रकार मेरे मनका विकार हो गया ॥ ३१ ॥

कश्यपजी–हे पुत्र ! अपने अपराधकी शंका मत करै। तुझे मोह हो गया था। सुन।

राजा–सुनता हूं।

कश्यपजी–जभी अप्सरातीर्थपर जाके व्याकुल होती शकुंतलाको लेकर मेनका अदितिके पास गई मैंने तभी ध्यानसे जान लिया कि तूने इस पतिव्रताको दुर्वासाके शापसे त्यागा था अन्यथा नहीं। और इस मूँदरीके देखनेही पर्यंत उस शापकी अवधि थी।

राजा–(गहरी श्वास लेकर) अब इस दुर्नामतासे छूट गया।

शकुन्तला—(स्वागतम्) दिट्ठिआ अकारणपच्चादेसी ण अज्जउत्तो। ण हु सत्तं अत्ताणं सुमरेमि। अहवा पत्तो मए स हि सावो विरहसुण्णहिअआए ण विदिदो। अदो सहीहिं संदिट्ठ ह्मि भत्तुणो अङ्गुलीअअं दंसइदव्वं त्ति। [दिष्ट्याकारणप्रत्यादेशी नार्यपुत्रः। न खलु शप्तमात्मानं स्मरामि। अथवा प्राप्तो मया स हि शापो विरहशून्यहृदयया न विदितः। अतः सखीभ्यां संदिष्टास्मि भर्तुरङ्गुलीयकं दर्शयितव्यमिति]

मारीचः—वत्से, चरितार्थासि। सहधर्मचारिणं प्रति न त्वया मन्युः कार्यः। पश्य।

शापादसि प्रतिहता स्मृतिरोधरूक्षे
भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव।
छाया न मूर्छति मलोपहतप्रसादे
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ॥ ३२ ॥

राजा—यथाह भगवन्।

मारीचः—वत्स, कच्चिदभिनन्दितस्त्वया विधिवदस्माभिरनुष्ठितजातकर्मा पुत्र एष शाकुन्तलेयः।

शकुंतला—(आपही आप) धन्य है, आर्यपुत्रने जानके नहीं त्यागा था। परंतु-मुझे शाप देनेकी सुध नहीं। अथवा विरहसे उदास बैठीको शाप मिला होगा मुझे विदित नहीं हुआ। अत एव सखियोंने मुझे समझा दिया था कि-पतिको अँगूठी दिखा देना।

कश्यपजी—हे पुत्री ! अब तू कृतार्थ हुई। प्राणपतिके प्रति क्रोध मत करना। देख।

सुध भूले पतिने शापसे तेरा परित्याग कर दिया था, अब उसका भ्रम दूर होनेसे तू ऐश्वर्यको प्राप्त हो गयी; मैलयुक्त दर्पणमें छाया नहीं पड़ती; पीछे शुद्ध करेमें प्रतिविम्ब सम्यक् पडता है ॥ ३२ ॥

राजा—भगवन् ! आपका कहना सत्य है।

कश्यपजी—हे पुत्र ! अब तूने हमसे विधिपूर्वक जातकर्म करे गये इस शकुंतलाके पुत्रको प्यार करा कि नहीं।

राजा—भगवन्, अत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा।

मारीचः—तथाभाविनमेनं चक्रवर्तिनमवगच्छतु भवान्। पश्य।

रथेनानुद्घातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः।
इहाहं सत्त्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात् ॥ ३३ ॥

राजा—भगवता कृतसंस्कारे सर्वमस्मिन्वयमाशास्महे।

अदितिः—भअवं, इमाए दुहिदुमणोरहसंपत्तीए कण्णो वि दाव सुदवित्थारो करीअदु। दुहिदुवच्छला मेणआ इह एव्व उपचरन्ती चिट्ठदि। [भगवन्, अनया दुहितृमनोरथसंपत्त्या कण्वोऽपि तावच्छ्रुतविस्तारः क्रियताम्। दुहितृवत्सला मेनकेहैवोपचरन्ती तिष्ठति]

शकुन्तला—(आत्मगतम्) मणोरहो क्खु मे भणिदो भअवदीए। [मनोरथः खलु मे भणितो भगवत्या]

राजा—भगवन्! यह तौ मेरे वंशकी प्रतिष्ठा है।

कश्यपजी—अब यहभी समझो कि—यह चक्रवर्त्ती होगा। देखो।

अद्वितीय रथवाला यह सावधानरूप अप्रतिहतगतिवाले रथसे सातों समुद्रोंको तरकर सातों द्वीपभूमीको जीतेगा। प्रथम दुष्टसत्त्वोंका दमन करनेसे मैंने सर्वदमन नाम रक्खा था, संसारका भरण पोषण करनेसे पश्चात् भरत नामसे प्रसिद्ध होगा ॥ ३३ ॥

राजा—जिसका आपने संस्कार किया है उससे हमें सब कुछ आशा है।

अदिति—हे भगवन्! इस कन्याके मनोरथसिद्धरूप सम्पत्तिके वृत्तांतका विस्तार कण्वको भी सुनाना चाहिये। और पुत्रीसे स्नेह करनेवाली मेनका यहांही घूमघाम रही है।

शकुंतला—(आपही आप) इस भगवतीने मेरेही मनकी कही।

मारीचः—तपःप्रभावात्प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः कण्वस्य।

राजा—अतः खलु मम नातिक्रुद्धो मुनिः।

मारीचः—तथाप्यसौ प्रियमस्माभिः श्रावयितव्यः। कः कोऽत्र भोः।

(प्रविश्य)

शिष्यः—भगवन्, अयमस्मि।

मारीचः—गालव, इदानीमेव विहायसा गत्वा मम वचनात्तत्रभवते कण्वाय प्रियमावेदय यथा पुत्रवती शकुन्तला तच्छापनिवृत्तौ स्मृतिमता दुष्यन्तेन प्रतिगृहीतेति।

शिष्यः—यदाज्ञापयति भगवान्। (इति निष्क्रान्तः)

मारीचः—वत्स, त्वमपि स्वापत्यदारसहितः सख्युराखण्डलस्य रथमारुह्य ते राजधानीं प्रतिष्ठस्व।

राजा—यदाज्ञापयति भगवान्।

कश्यपजी—तपके प्रभावसे मान्यवर कण्वको समस्त वृत्तांत विदित होगा।

राजा—इसीसे मुनिजीने मेरे ऊपर क्रोध नहीं करा।

कश्यपजी—तथापि यह शुभ समाचार हम सुनानाही चाहिये। अरे! यहां कौन कौन है।

(आयकर)

शिष्य—भगवन्! मैं यह हूं।

कश्यपजी—हे गालव! अभी आकाशमार्गसे जाकर मेरी ओरसे पूज्यपाद कण्वसे यह प्रिय समाचार कह दे कि—पुत्रवती शकुन्तलाको उस शापकी निवृत्ति हो जानेपर राजा दुष्यन्तने सुध कर ग्रहण करली।

शिष्य—भगवान्की जो आज्ञा। (यौं कहकर चला गया)

कश्यपजी—हे पुत्र! तुमभी अपने पुत्र और स्त्रीसहित इंद्रके रथपर चढकर अपनी राजधानीको पधारो।

राजा—आपकी जो आज्ञा।

मारीचः—हे पुत्र ! शृणु।

तव भवतु बिडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं प्रीणयस्व।
युगशतपरिवर्तानेवमन्योन्यकृत्यै-
र्नयतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः ॥ ३४ ॥

राजा—भगवन् यथाशक्ति श्रेयसि यतिष्ये।

मारीचः—वत्स, किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि।

राजा—अतः परमपि प्रियमस्ति। यदिह भगवान्प्रियं कर्तुमिच्छति तर्हीदमस्तु भरतवाक्यम्।

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतमहतां महीयसाम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥ ३५ ॥

कश्यपजी—हे पुत्र ! सुनो।

तुम्हारी प्रजामें इन्द्र प्रभूत वर्षा करै, और तुमभी यज्ञका विस्तार करके इंद्रको संतुष्ट करो; इस प्रकार परस्परके उपकारसे सैकडों युगपर्यंत दोनों लोकोंका पालन करते रहो ॥ ३४ ॥

राजा—हे भगवन् ! यथाशक्ति धर्माचरणका यत्न करूंगा।

कश्यपजी—हे पुत्र ! और क्या तुम्हारा प्रिय करूं।

राजा—क्या इससे भी अधिक प्रिय होगा। और यदि आप प्रिय करनेहीकी इच्छा करते हैं तो यह भरतका कहना होय।

राजा लोग प्रजाका हित करनेके लिये प्रवृत्त रहें, वेदपाठी बडे २ ब्राह्मण सरस्वतीका पूजन करें; और सर्वव्यापक शक्तिवाले स्वयंभू महादेवजी मेरे दूसरे जन्मका विनाश करें अर्थात् मेरी मोक्ष करें ॥ ३५ ॥

मारीचः—तथास्तु ।

(इति निष्क्रांताः सर्वे)

इति सप्तमोऽङ्कः ।

समाप्तमिदमभिज्ञानशाकुन्तलं नाम नाटकम् ।

कश्यपजी—ऐसाही होगा ।

(यौं कहते कहते सब चले गये)

सप्तम अंक समाप्त ।

इति श्रीमत्परमपूज्यपदपद्म-पदवाक्यप्रमाणपारावारीणसाहित्यसा-
गरावर्त्तकर्णधारज्योतिर्विद्भट्टश्रीज्वालानाथतनूद्भव-उदीच्यव्र-
जरत्नभट्टाचार्य्यप्रणीताभिज्ञानशाकुन्तलनाटकव्याख्या
मनोरमाख्या सम्पूर्णा ।

मंगलं भवतु ।

श्रीगुरुपूजा संवत् १९५३ शुक्रवार.

११।११।१६.

पुस्तक मिलनेका ठिकाना ।

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास
" लक्ष्मीवेंकटेश्वर " स्टीम् प्रेस
कल्याण-मुंबई.

खेमराज श्रीकृष्णदास
" श्रीवेंकटेश्वर " स्टीम् प्रेस
खेतवाडी-मुम्बई.